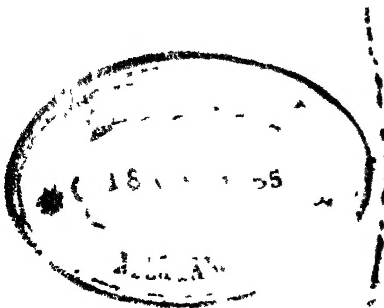
तीसरी भूख

लेखक

अनन्त गोपाल शेवड़े



प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता ५, खुसरू बाग रोड, इलाहाबाद, ३

प्रथम सस्करण

मूल्य २॥)

प्रकाशक

नीलाभ प्रकाशन गृह, ५ खुसरो बाग़ रोड, इलाहाबाद-१

मुद्रक

देश सेवा प्रेस, हीवेट रोड, इलाहाबाद ।

लेखक का निवेदन

कृपालु पाठको के सामने अपने १२ ललित निबन्धो का संग्रह पेश करते हुए मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है। यदि इनके पढ़ने से उन्हे निराशा न हुई तो मै अपने आपको कृतार्थ समझूँगा।

इनमे से आधे निबन्ध जेल मे लिखे गये है और आधे बाहर। ये सब 'सरिता', 'राष्ट्र भारती', 'मानवता' तथा 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' आदि पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुके है। उनके विद्वान् सम्पादको ने इन्हे पुस्तक-रूप मे प्रकाशित करने की इजाज़त दी, इसके लिए मै उनका कृतज्ञ हूँ।

साहित्य-शास्त्रियों ने निबन्धो के विविध प्रकार बताये है, पर उनकी न तो नपी-तुली व्याख्या ही की जा सकती है और न उनकी नपी-तुली सीमा-रेखाएँ ही निर्धारित की जा सकती है। क्योंकि निबन्ध मुख्यत· आत्माभिव्यंजक होता है, जिसमे लेखक की अन्तर्वृत्ति का निरूपण रहता है। जितने व्यक्ति होते है उतनी ही प्रवृतियाँ होती हैं। इसलिए निबन्धो के प्रकार भी अनगिनती हो सकते हैं। यह तो लेखक के व्यक्तित्व पर, उसके अनुभव, अध्ययन तथा अवलोकन पर अवलम्बित रहता है। वह क्या कहता है और किस प्रकार कहता है, इसी पर उसके निबन्ध की सफलता या असफलता निर्भर है। दुनिया के कभी न रुकने वाले चक्र मे, जीवन के इस विशाल, अनिर्बन्ध प्रवाह मे, उसने क्या देखा, क्या सुना,

क्या गुना और अपने जीवन के रगो को मिलाकर उसमें से उसने कौन सा सत्य, कौन सा शिव, कौन सा सौन्दर्य निर्माण किया, यह सब उसके आत्माभिव्यंजक निबन्धो से ज्ञात हो सकता है। वह चलता तो है दुनिया को देखने और उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना करने, पर वह यह भूल जाता है कि इस तरह वह स्वयं दुनिया के सामने इम्तहान दे रहा है ताकि लोग देखे और फैसला करे कि वह खुद कितने पानी मे खड़ा है ?

इसलिए इन निबन्धो के बारे मे कुछ भी कहना मेरा काम नही है। मै तो केवल अपने साहित्य-प्रेमी पाठकों का कृतज्ञतापूर्वक मंगल-स्मरण कर इन निबन्धो को हिन्दी-संसार की सेवा मे प्रस्तुत कर रहा हूँ—वे भले हो तो, बुरे हो तो ! उनकी स्वीकृति हिन्दी-जगत् की उदारता की परिचायक होगी, निबन्धो के कला-गुण की नही।

नागपुर
३० जुलाई ५५

अनन्त गोपाल शेवड़े

क्रम

तीसरी भूख

भाइयो और बहनो !



शाम हुई कि गाँव के चौक मे गैस की बत्ती लगी, एक छोटी-सी मेज लगा दी जिस पर खद्दर की रगीन बेलबूटेदार चादर बिछा दी गयी और एक टेढी-मेढी कुर्सी। पास ही एक खम्भे से तिरगा झण्डा लगा हुआ है। मेज के सामने सौ-दो-सौ लोग जमा हैं और यदि गाँव बड़ा है तो हजार-पाँच-सौ। और जनाब तान कर भाषण हो रहा है—भाइयो और बहनो!

वक्ता महोदय की पोशाक भी परिचित है......वही खद्दर का लम्बा कुरता, धोती या पैजामा, जवाहर जैकेट और सिर पर तिरछी टोपी। अगर वक्ता महोदय शहर से आये हों तो आँखों पर चश्मा और हाथ में घडी भी नजर आ जायेगी। सारे शरीर को हिला-हिलाकर श्रोता समुदाय के प्रत्येक हिस्से की ओर गर्दन घुमा-घुमाकर और मेज पर मुक्का मार-मार कर जोर के साथ कहा जा रहा है—भाइयो और बहनो !

आख़िर बात क्या है जो भारतवर्ष के भाइयो और बहनो का इस तरह ललकार-ललकार कर आह्वान किया जा रहा है ? और क्या कहा जा रहा है ?......

यही कि हमारे देश मे इनक़लाब हो रहा है, हमारी आँखो के सामने इतिहास बन रहा है, हमे आजादी हासिल करनी है और इसके लिए हमे ख़ून की नदियाँ बहानी पडेगी। हमको अपना सर्वस्व त्याग देने के लिए तैयार हो जाना चाहिए, भारत माता पुकार रही है...वगैरह वग़ैरह !

स्वतत्रता मिलने के पहले इस तरह के दृश्य गाँव-गाँव मे और नगर-नगर मे दिखायी देते थे। एक वक्त था जब हमे विदेशी सत्ता के ख़िलाफ़ वातावरण तैयार करना था और देहात-देहात मे जागृति पेदा करनी थी, तब इस तरह की सभाओ ने बड़ा भारी काम किया। हमारे देश की स्वतत्रता के सग्राम मे इन भाषणो ने प्रायः उतना ही काम किया जितना कि राष्ट्रीय समाचार-पत्रो ने। और उन राजनीतिज्ञो और राष्ट्रीय कार्यकर्ताओ के प्रति हमारे दिल मे इज्जत होना बिलकुल स्वाभाविक है, जिन्होने सग्राम-ज्वाला को प्रज्वलित रक्खा। लेकिन इसके साथ ही साथ सच्चे कार्यकर्ताओ के अलावा नकली नेताओ की ऐसी बाढ आयी कि अनुयायियो का मिलना तक कठिन हो गया। सारा देश लीडरो से भर गया। आफ़त आ गयी।

इस लीडरी के पीछे धारणा यही थी कि जब तक पाँच-पचीस लोगो के सामने भाषण देते नहीं, तब तक क़दर होती नही। लोग भाषण समझे न समझे......एक घण्टा बोलना हमारा काम है। उसके बाद उसी भाषण की रिपोर्ट स्वय लिखकर स्थानीय या प्रान्तीय अख़बार मे भेज दी और उस मे कह दिया कि जिले के प्रसिद्ध नेता श्रीमान जी...का ओजस्वी

भाइयो और बहनो !

भाषण हुआ, जनता मंत्र-मुग्ध की तरह एक-एक शब्द सुनती रही, भाषण से जनता मे अपार जागृति की लहर फैल गयी है, श्रीमान जी का करतल-ध्वनि के साथ उत्साह-पूर्वक स्वागत किया गया, फूल मालाएँ पहनायी गयी......इत्यादि इत्यादि ।

गाधी जी ने कहा है कि विधायक कार्यक्रम अपनाओ, ठोस काम करो । श्रीमान जी ने कहा, तुम रात्रि की पाठशाला चलाओ, हम उसका उद्घाटन कर देगे । तुम चरखा चलाओ हम उसके महत्व पर सार-गर्भित भाषण दे देगे । हम दौरा करेगे, सगठन के महत्व पर भाषण देगे । बाकी काम तुम्हारा, बोलने का काम हमारा । यानी और कोई काम करने की जरूरत नही है, सिर्फ बोलने का ही काम है । जब देखो तब चर्चा, वाद-विवाद, सभा-परिषद और भाषण ! मानो बोलने का रोग ही हो गया है ।

काम और अक्ल की कोई बात हो तो उसमे कहने वाले का कल्याण है और सुननेवाले का भी । समाज का कल्याण है और देश का भी । लेकिन बात सिर्फ इसीलिए करना है कि उससे व्यक्तिगत प्रतिष्ठा बढे । 'लीडरी' कमायी जाय तो ऐसे भाषण जितने कम हो उतना ही अच्छा । आजादी की लडाई मे या चुनाव के जमाने मे यदि कुछ व्यवस्थित भाषण दिये जायँ तो बिलकुल सही बात है । लेकिन जब ठोस कार्य करने का समय आ गया है और राष्ट्र-निर्माण के कार्य की जिम्मेदारी आ गयी है, उस समय बोलना बद करना ही सबसे बडा काम है । क्योकि जब तक बोलना बद न हो, तब तक काम कैसे शुरू हो सकता है ?

और ये भाषण-बहादुर लोग उतने ही रण-बहादुर होते तो बात भी थी । लेकिन कई तो भाषण देने के समय सबसे अव्वल रहते हैं और जहाँ लडाई शुरू हुई और आँच लगने का समय आया कि पहले रणछोड बन जाते हैं ।

मेरे एक सार्वजनिक कार्यकर्ता मित्र की यही तारीफ़ थी। उनका काम था कि जब कोई कांग्रेस-कर्मी सत्याग्रह करने निकलता हो और जेल जा रहा हो तो उसकी विदाई में सत्कार-समारभ का आयोजन करना और जोरदार भाषण देकर सत्याग्रही महाराज का गुण-गान करना और जनता से अपील करना कि वह उनका आदर्श अपनी आँखो के सामने रखे और उसे अपने जीवन मे उतारने की कोशिश करे। उसके बाद वे छुट्टी ले लेते थे और तभी सामने आते थे जब कि सत्याग्रही महाशय जेल से छूटकर आ जायँ और फिर उनकी स्वागत-सभा का आयोजन हो। उस दिन फिर एक लम्बा भाषण होता, जिसमें अतिथि महोदय का जेल की घोर यम-यन्त्रणाओं को भोगने के लिए गौरव-गान किया जाता और पुष्प-मालाओं से सत्कार किया जाता। जेल के अहाते के पास फटकने का वे महाशय कभी नाम न लेते। स्वतत्रता सग्राम या सत्याग्रह जारी रहता, तब वे नगर छोडकर 'देश' चले जाते जो अक्सर दूर उत्तर हिन्दुस्तान की किसी रियासत मे रहता।

ये साहब मुझे १९४२ मे जेल मे मिल गये। मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा—"कहिए साहब, स्वागत करते-करते अब खुद का स्वागत करा लेने की हविस पैदा हुई, जो इस बार जेल में आ धमके?"

"क्या बताये साहब, बडी आफत में फँस गये। अपनी मर्जी से थोड़े ही आये हैं? रात की ढाई बजे की गाड़ी से हम आगरा जाने ही वाले थे...सारी तैयारी हो गयी थी। लेकिन न जाने पुलिस को कहाँ से पता चल गया, एक बजे रात को ही घर पर छापा मारा और हमें यहाँ बन्द करा दिया। पुलिस को यदि डेढ घण्टे की देर हो जाती तो फिर हम थोड़े ही उनके हाथ लगने वाले थे? लेकिन क्या करे?"

और मैंने देखा कि यह स्वागत करा लेना उन्हें बहुत अखर रहा

था। कई बार तो दरख्वास्त दी कि वे बेगुनाह है, बेमतलब गिरफ्तार किये गये हैं। अपनी मौसी और सास की बीमारी का बहाना बताया, पैरोल माँगी,..लेकिन रिहाई नहीं हुई। सात महीने जेल मे रगड खाने के बाद जनाब छूटे तो मगन यहा बता रही थी कि जान बची लाखों पाये। बाद मे मुझे पता नहीं चला कि औरो का स्वागत करने का उनका उत्साह पहले की ही तरह बना रहा या नही।

ऐसे महानुभावो के भाषणो का किसी पर क्या असर पड़े ? वे किसी की तारीफ करें तो क्या और बुराई करें तो क्या ? स्वागत करे या न करे, तो क्या ?

बेकार बोलने का मर्ज राजनीतिज्ञो मे है सो बात नही। वह सब जगह फैला हुआ है। हर क्षेत्र मे आपको इस रोग से पीडित रोगी दिखायी देगे।

एक बार काकासाहब कालेलकर ने मुझे एक घटना बतायी। काशी जी के गंगाघाट मे उन्होंने देखा कि दो साधू जोर-जोर से आपस मे वाद-विवाद कर रहे हैं। काकासाहब ने ध्यान से सुना, आखिर चर्चा का विषय क्या है ? तीन घण्टे बहस चली और उसमे विषय यही था कि मौन रखने से क्या-क्या फायदे हैं।

हमारे एक मित्र सरकारी ओहदेदार हैं। उनके काम का एक बहुत बड़ा हिस्सा है—लोगो को 'इटरव्यू' देना और जनता की शिकायतें सुनना, उससे सम्पर्क स्थापित करना। मै जब उनसे मिलने गया तो उन्होंने एक घण्टा सिर्फ यही बतलाने मे ले लिया कि आजकल काम की अधिकता के कारण उन्हे एक मिनट की भी फुर्सत नही मिलती।

तीसरी भूख

अगर भाषण सभी लोग देने लगे और बार-बार देने लगे तो उनकी क्या क़द्र हो? लोग अक्सर भाषण सुनने जाते ह, पर उन भाषणों से बोलने वालो को छोड कर और किसी को दिलचस्पी नही रहती।

एक बार हम भी बडी मुसीबत मे फँस गये। हमारे प्रदेश मे गणेशोत्सव का काफी महत्त्व है। उस समय कई स्थानो मे लोग भाषणो के लिए बुलाये जाते हैं। उन दस दिनो मे भाषणो की बडी धूम रहती है और वक्ताओ को पहले से पक्का कर लिया जाता है ताकि ऐन वक्त पर गडबड न हो जाय। भाषणो के इस मौसम मे हमारे पास दो विद्यार्थी आये और कहा कि काग्रेस की भूमिका के बारे मे हम उनके 'गणेश समाज' मे भाषण दे। थोडी देर आना-कानी की, क्योकि उनका सभा स्थान बहुत दूर था। ताँगे से एक घण्टा तो पहुँचने मे ही लगता था। लेकिन उन्होने आग्रह किया तो मान गये। भाषण का स्थान-समय सब कुछ नोट कर लिया। बीच मे तीन दिन थे, काफी मेहनत करके भाषण के 'नोट्स' बना लिये। सोचा कि चलो इस भाषण के बहाने कुछ अध्ययन ही हो जायगा। उस दिन धोबी के धुले कपड़े पहनकर सभा-स्थल मे पहुँचे, जो एक शकर जी के मन्दिर मे था। स्वागत के लिए उन दो युवको मे से एक साहब हाज़िर थे। सभा शुरू होने के लिए सिर्फ पाँच मिनट बाकी थे। वहाँ देखा तो श्रोता के नाम पर एक आदमी भी नहीं! बस शकर जी जी का दर्शन करने लोग आते थे और चले जाते थे। मेरे निमत्रक विद्यार्थी महाशय ने उनसे काफी आरजू-मिन्नते की, "कैनवेसिग" की कि एक बडे विद्वान भाषण देने के लिए आये हैं, सुनने से बडा लाभ होगा, लेकिन वे एक बार मेरी सूरत-शकल देख लेते और दूसरे दरवाजे से खिसक जाते। आयोजक शर्म के मारे गड़े जाते थे कि पाँच सौ छपे हैन्डबिल बाँटने के बाद पाँच आदमी भी इकट्ठे नहीं हो सके। मेरे

सामने मुँह छिपाते । मै तो बैठे-बैठे तमाशा देख ही रहा था । जब पौन घण्टा इन्तजार किया गया और आयोजको ने कोशिश की तो बडी मुश्किल से पॉच आदमी इकट्ठे हुए । विद्यार्थी महाशय ने कहा कि अब आप भाषण दे ही डालिए । शुरू होने के बाद और लोग आ जायेंगे । हमने अपनी 'ड्यूटी' पूरी कि......आख़िर हमने भी तो भाषण तैयार करने में मेहनत-मशक्कत की थी । जब चालीस मिनट का भाषण समाप्त हुआ तो श्रोताओं की सख्या बढ़कर सात तक पहुँच गयी थी । बेमतलब लोगो पर भाषण लादे जायँ तो इसके सिवा भला और क्या नतीजा निकल सकता है ?

एक साहित्य-सम्मेलन की बात है जिसमे मै एक अख़बार के प्रतिनिधि की हैसियत से शरीक़ हुआ । बहुत शानदार जलसा हुआ । काफी पैसा खर्च किया गया । साहित्यिको के पास सरस्वती भले ही रहे, लक्ष्मी तो रहती नही । इसलिए साहित्यिक आयोजको को लक्ष्मी-पुत्रो की शरण लेनी पडी । एक धनिक व्यवसायी को जो 'नाइट' और 'ओ० बी० ई०' इत्यादि का खिताब पाये थे, स्वागताध्यक्ष बनाया गया, सिर्फ शोभा के लिए तथा उनके धन के लिए । काम सब किया साहित्यिक प्रधान मत्री महोदय ने । उनका परिश्रम था और लक्ष्मीपुत्र का यश । अन्त में सम्मेलन का उपसहार हुआ और धन्यवाद देने के लिए स्वागताध्यक्ष महोदय खड़े हुए । दुर्भाग्य से उनका भाषण लिखित और मुद्रित नहीं था । वे बोले—

"मैं तो स्वागताध्यक्ष बरायनाम था । जो कुछ मेहनत की है वह प्रधान मत्री श्री......जी ने । मै ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह उनकी आत्मा को शाति दे ।"

बेचारे प्रधान मन्त्री महोदय ! जीते-जागते ही स्वर्ग पहुँचा दिये गये ।

एक वक्ता महोदय पुरातनवादी थे। आर्य नीति-नियमो का पालन करने मे दक्ष थे। एक मेले में हिन्दू-धर्म के महत्व पर भाषण देने गये। श्रोताओ में पुरुष भी थे, स्त्रियाँ भी थी। भाषण शुरू करने के पहले उनकी नजर स्त्री समुदाय की ओर गयी तो अकस्मात देखा कि उनकी धर्म-पत्नी भी बच्चे को गोद मे लेकर उनकी ओर कान लगाये बैठी हैं। वे जब भाषण देने उठ खड़े हुए तो बोले—

"भाइयो, और कल्लू की माँ को छोड़ कर, बहनो !" सारी सभा हँस पड़ी। औचित्य के बारे में इतनी सतर्कता बरतने मे उनके जैसे वे ही अकेले थे।

मौसम-बेमौसम बोलने की इच्छा के कारण पेशेवर वक्ताओ का एक वर्ग ही बन गया है। जिस तरह कुछ जातियो में मृतक के शरीर के पास रोने के लिए पेशेवर रोनेवाले बुलाये जाते हैं, वैसे ही ये सभा-सोसाइटियो की शोभा बढ़ाने के लिए भाषण देने के लिए बुलाये जाते हैं। अपनी साधारण बुद्धि के कारण वे किसी भी प्रसंग को निभा ले जाते हैं। लेकिन कभी-कभी बडी मुसीबत में भी फँस जाते हैं।

एक बार बड़े मजे की घटना हुई—किसी कालेज की हिन्दी साहित्य समिति में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पुण्यतिथि मनायी जा रही थी। उसके लिए पंडित माखनलाल चतुर्वेदी को अध्यक्ष बनाया गया था। जिस समय वे समारोह में जाने के लिए मोटर में चढ़ ही रहे थे कि उनसे मिलने के लिए कांग्रेस-कमेटी के प्रधान महोदय आ धमके। चतुर्वेदी जी ने उनसे भी आग्रह किया कि वे भी समारोह में उपस्थित हो। अगर प्रधान महोदय केवल उपस्थित ही रहते तो शोभा बनी रहती। लेकिन उन्हें

भाषण देने का रोग जो था। समिति के मंत्री ने उनसे शिष्टाचार के नाते प्रारम्भिक भाषण देने के लिए कहा। अब प्रधान महोदय तो राजनीति में निपुण थे और दैनिक अखबार पढ कर अपना ज्ञान 'अप-टू-डेट' रख लेते थे। लेकिन साहित्य के क्षेत्र में वे बिलकुल ठेठ थे। अच्छा होता यदि वे शिष्टाचार के आग्रह से अपने आप को बचा लेते। लेकिन न माने, भाषण देने उठ खडे ही हुए। अपने मुखारबिंद से फूल बरसाने लगे !

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को भला भारतवर्ष मे कौन नहीं जानता। सत्य के लिए जिसने अपनी स्त्री और पुत्र को भी बेच डाला और स्वयं चाण्डाल की चाकरी करने को उद्यत हो गया, उस परम सत्यवादी हरिश्चन्द्र को कौन नहीं जानता ?......" और इस तरह उस साहित्य-मण्डली में आपने अपनी विद्वत्ता का धडाके के साथ प्रदर्शन कर डाला। सभा में लोगो को काटो तो खून नही। विद्यार्थियों ने शोर-गुल मचाया, जूते थपथपाये, सीटियाँ बजायीं तब कहीं जाकर छुट्टी मिली। बोलने के रोगी यदि इतना भी जान लें कि किस जगह बोलना इष्ट नहीं तो बहुत है। लेकिन इतना भी जानना आसान कहाँ ?

बोलने के मर्ज के शिकार इस बात की कोशिश करेंगे कि उनकी जिह्वा के गुणो के प्रदर्शन के लिए सभाओ का विशेष आयोजन हो। कई नेतागण तो दौरे पर, अगले स्थान पर पहुँचने के पहले ही तार दे देते हैं कि "फलाँ गाडी से आ रहा हूँ, स्वागत और सभा का इन्तजाम हो।" जब इस क़दर ज़बरदस्ती की सभा करायी जाय तो उसमें उपस्थिति की जिम्मेदारी कौन ले ? एक स्वामी जी के दौरे में यही बात हुई। शुद्धि और संगठन के जमाने में वे धुआँधार दौरा कर रहे थे। अंधे थे इसलिए स्वाभाविकतः उनके प्रति लोगो को सहानुभूति थी। फिर भी उनके

भाषणों का दौरा इतना जोर से चलता कि लोग ऊब जाते। एक बार सभा का आयोजन किया गया तो दो-ढाई सौ से ज्यादा लोग इकट्ठा न हो पाये, जब कि दस हजार की उम्मीद की गयी थी। आयोजक जरा शर्मिंदा हुए। स्वामी जी ने भाषण करने के पहले पूछा—"कितनी उपस्थिति है?"

"कोई पॉच हजार होगी स्वामी जी," आयोजक महोदय बोले। स्वामी जी ने गला साफ कर आवाज चढा कर भाषण देना शुरू किया—

"भाइयो और बहनो......"

पॉच मिनट भाषण देने के बाद उन्हें कुछ शक हुआ। रुके और आयोजक महोदय की ओर मुड़कर बोले—"जनता इतनी शात क्यो है?"

"मंत्र-मुग्ध की तरह आपके भाषण को सुन रही है स्वामी जी!"

"ऐसा?" स्वामी जी प्रसन्नता से फूल उठे और दुगुने जोर से बोलने लगे—

"भाइयो और बहनो!

आज तो हमारे देश में बोलने वालो की बाढ आ गयी है। गाधी जी जिन्दगी भर यही कहते आये कि बोलो कम, काम अधिक करो। वे स्वय बड़े कामकाजी व्यक्ति थे। फालतू बातो के लिए तो उनके पास वक्त भी नहीं रहता था। फिर भी लोगो के सामने उदाहरण रखने के लिए वे सप्ताह में एक दिन मौन रहते।"

हम लोग यदि यही सीख ले कि मौन कब रहा जाय और बात कब की जाय तो सचमुच ज्ञानी हो जायँ। लेकिन आदत से जो लाचार हैं? अपनी जीभ पर अपना क़ाबू न रखने से क्या अनर्थ होता है इसकी एक दिलचस्प कहानी है।

एक ब्राह्मण के तीन लडके थे। देखने मे तीनों स्वस्थ और सुन्दर थे, लेकिन उनमे एक ही दोष था कि वे बात करते तुतलाते थे, इसलिए

वयस्क होने के बाद भी उनका विवाह नही हो पाया था। एक दिन दूर देश से कोई महाशय आये जिन्हे अपनी कन्या के लिए वर खोजना था। उन्होने इन तीन ब्राह्मण-पुत्रो की कीर्ति नही सुनी थी। इसीलिए विवाह हो जायगा, इसकी उम्मीद भी बँधी।

वर-परीक्षा के लिए तीनो को एक लाइन में बैठा दिया गया। उनके पिता ने सोचा, जिस किसी को पसन्द कर लिया जाय, उसी का विवाह हो जायगा। एक-तिहाई सवाल हल हुआ। बैठाने के पहले उन्हें साफ-साफ हिदायतें दी गयी कि वे जबान से एक शब्द भी न बोलें। जो कुछ कहना-सुनना है, उनके पिता जी कर लेगे।

कन्या के पिता ने मुलाहिजा शुरू किया। पहले पुत्र के चेहरे पर नजर गडायी। मालूम हुआ कि वे पसन्द न आये। बड़े पुत्र महाशय ने यह देखकर कि अब लडकी हाथ से जाती है, अपनी सिफारिश मे अपनी मातृभाषा बुन्देलखण्डी मे कह डाला......"टंडन लडे हैं टब डेठियो।" (चदन लगे हैं तब देखियो)।

कन्या के पिता ने एकदम मुँह फेर कर दूसरे पुत्र का मुआयना शुरू किया तो देखा कि वे अपने बड़े भाई से कह रहे थे—"डड्‌ ने टा टई ठी टि बोलियो मटी" (दद्दा ने का कही थी कि बोलियो मती।)

तीसरे भाई यानी छोटे मियाँ एकदम खुश हो उठे कि अब दोनो की नापसन्दगी के बाद तो कन्या उन्हीं के गले मे हार डालेगी। इस खुशी मे वे आपे मे नही रहे। बोले—"टुम डोनो ने टो बोल डई अम हो टुप्पई-टाप।" (तुम दोनो ने तो बोल दई हम तो चुप्पई-चाप)

कन्या के पिता ने अँगोछा उठाया और चलते बने। बेचारे तीनों ब्राह्मण पुत्र और उनके पिता टापते ही रह गये। अपने करम को कोसने के सिवा कुछ न करते बना। लडकी हाथ से गयी सो गयी।

सस्कृत का यह सुभाषित बिलकुल ठीक ही है—"तावच्च शोभते मूर्खः यावत् किञ्चित भाषते।" अर्थात् मूर्ख की शोभा तभी तक है जब तक वह भाषण के लिए जबान नहीं खोलता। इसलिए......

भाइयो और बहनो!

यदि हम अपनी जबान पर क़ाबू नहीं रखेगे तो पता नही हमारी गति उन तीन ब्राह्मण-पुत्रो की तरह न हो जाय।

क्या आपने वह पुस्तक पढ़ी है ?



"क्या आपने प्लेटो की रिपब्लिक पढी है ?"

"जी नहीं ।"

"मारकस ऑरिलियस या एपिक्टीटस ?"

"नही ।"

"अरे ! कनफ्यूशियस ?"

"नही ।"

"वह भी नहीं तो बाल्मीकि रामायण तो ज़रूर पढ़ी होगी ?"

"नहीं साहब, वह भी नही पढी ।"

"तो कालिदास का रघुवंश, मेघदूत या शाकुंतल?"

"जी नहीं, वह भी नहीं ।"

"ओ हो हो । महाशय, तब शायद आपको पढ़ने का शौक ही नहीं दीखता है । देखिए, ये विश्व साहित्य के अमर कलाकार और चिन्तक

हैं। आजकल की नयी रोशनी के जमाने मे इनमे से कुछ तो जरूर पढ लेने चाहिए।"

इस तरह का वार्तालाप, ऐसी सलाह आपको कई जगह मिलेगी। और 'न-न' कहते-कहते आपको भी शायद यह महसूस होने लगे कि विद्वानो के इस युग मे आपके लिए कोई स्थान नही है। आप मन ही मन शर्मिन्दा भी होगे। लेकिन असलियत तो यह है कि आपको जरा भी लज्जित होने की जरूरत नही है। आपकी योग्यता इस पर अवलम्बित नहीं है कि आपने कितनी किताबे पढी हैं, वरन् इस पर है कि जो आपने पढ़ी हैं वे ठीक से हजम की हैं या नहीं ?

आजकल किताबो, अखबारो और छापाखानो के इस जमाने मे, यह फ़ैशन-सा हो गया है कि हम पुस्तको की चर्चा करे, ठीक उसी तरह जैसे सिनेमा, फ़िल्मों और अभिनेताओ की चर्चा की जाती है। और जहाँ सिर्फ़ फैशन का ही ख़याल है वहाँ, माफ कीजिए, ख़तरे की लाल झण्डी दिखाना जरूरी है। क्योकि सोसायटी मे जो किताबो इत्यादि की बातचीत होती है, उसमें गहराई या गम्भीरता कम होती है, दिखाऊपन ज़्यादा होता है। हर हालत मे ऐसा तो नहीं होता, लेकिन आमतौर पर यह सही है।

एक पादरी साहब को यह बतलाने का बहुत शौक था कि उन्हें पढ़ने से बड़ी रुचि है। उनके एक जिगरी दोस्त ने, जो उन्हे अच्छी तरह जानता था, और रोज उनके यहाँ जाया करता था, उन्हें ग्रीक साहित्य की एक बडी अच्छी पुस्तक लाकर दी। जब उस दोस्त के आने का वक्त होता तो पादरी साहब झट से वह किताब खोलकर पढने लगते और उसी जोर में १५-२० पन्ने पढ डालते। मित्र देखकर मन ही मन हँसता, लेकिन बातचीत के दौरान मे, पादरी साहब की नजर बचाकर, वह रोज

पढने का निशान उठाकर १५-२० सफे पीछे रख देता । वह सिलसिला चार-पॉच रोज चलता रहता। दोस्त ने पूछा, "कहिए साहब, किताब पसन्द आयी ?"

"वाह, बहुत अच्छी किताब है। मैने ऐसी पुस्तक नही देखी थी। लेकिन माफ कीजिए, इसमे वही बात बार-बार दुहराकर कही गयी है।"

या फिर आपका मेरे उन दोस्त महाशय के बारे मे क्या ख़याल होगा, जिन्हे किताब पढने की बजाय ख़रीदने का ज्यादा शौक था ? भाग्यवशात लक्ष्मी देवी की उनपर कृपा थी। कोई भी मार्के की नयी पुस्तक प्रकाशित हो, वे जरूर मॅगा लेगे और उसके कवर पर जो आलोचनाएँ लिखी रहती हैं, या 'लिटररी रिव्यू' मे उसके बारे मे जो लेख छपते हैं, उनके बल पर अपनी राय क़ायम करके समाज में अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करते हुए घूमते फिरेगे। उनसे मैने नोबुल पारितोषिक विजेता की एक नयी पुस्तक पढने के लिए मॉगी, जिसका पार्सल सिर्फ दो हफ़्ते पहले आया था। मैने मॉगते समय सकोच किया, कहीं उनका पढना खत्म न हुआ हो।

"नही-नही, ख़ुशी से ले जाओ, मै इसे पूरा पढ़ चुका हूँ।" वे बोले, मुझे तसल्ली हुई। घर आकर देखा तो पाया कि उसके अन्दर के कई पन्ने जुड़े हुए हैं।

ज़रा एक और किस्सा सुन लीजिए। एक मीर साहब थे, जो बड़े सरकार परस्त और ख़ुशामदी थे। सरकार ने उनकी ख़िदमत की दाद दी और बादशाह के जन्मदिन पर उन्हे "खान साहब" का ख़िताब बख़्शा गया। फिर क्या पूछना है। ख़ुशी-ख़ुशी बड़े साहब (डिप्टी कमिश्नर) के यहॉ सलाम करने तथा उनका शुक्र अदा करने पहुँचे। अफ़सोस यही था

कि ख़ुद-बख़ुद बादशाह की क़दम बोसी करने का कोई मौक़ा नही था। बड़े साहब ने मुबारकबाद के साथ एक 'फ्रैंडली' सलाह दी—

"देखिए ख़ान साहब, अब आपको गवर्नर की कोठी पर जाना पड़ेगा। बड़े-बड़े हाकिमो की पार्टियो मे शरीक़ होना पड़ेगा। अच्छा हो यदि आप थोड़ी-सी अंग्रेजी सीख ले।"

"बहुत बेहतर हुजूर। ए-बी-सी तो मै जानता ही हूँ, लेकिन इतने से काम नही चलेगा, कुछ और तरक्की करनी होगी। क्या आप अंग्रेजीइ ल्म हासिल करने का कोई आसान तरीका बतला सकते हैं?"

"हाँ हाँ, क्यो नहीं? आप रोज एक अंग्रेजी अख़बार पढा कीजिए—'टाइम्स आफ इण्डिया' से बढ़कर और कौन-सा अख़बार हो सकता है?"

"बहुत बेहतर हुजूर, शुक्रिया, शुक्रिया।" कहकर मीर साहब घर लौटे और फौरन टाइम्स के एजेण्ट को आर्डर दे दिया और बावर्ची को हिदायत दे दी कि सुबह चाय के साथ उनका अंग्रेजी अख़बार भी उनकी मेज पर जरूर रखा जाय।

'टाइम्स' आना तो शुरू हो गया लेकिन वह मीर साहब के मन में दिलचस्पी नहीं पैदा कर सका। उनकी ए-बी-सी काम नहीं आयी क्योंकि बार-बार उलट-पुलट कर भी उसमें से उन्हे कुछ ख़ास समझ में न आया। हाँ कुछ फोटू-वोटू दीख जाते थे। ख़ैर, चूँकि बड़े साहब का हुक्म था इसलिए टाइम्स मँगाना बन्द तो नही किया जा सकता था, लेकिन वह मेज पर जैसा आया हुआ रखा जाता वैसा ही लौट जाता। बावर्ची ने यह देखा, लेकिन चाय के वक्त अंग्रेजी अखबार मेज पर रख देने की रस्म अदा करने में वह कभी न चूका। यह जरूरी नही था कि रोज ताजा अंक ही पेश किया जाय।

लेकिन एक दिन मीर साहब खफा हो गये। बोले—

"क्यो बे उल्लू, तू कल का ही अख़बार आज फिर रख गया ?"

"नहीं हुज़ूर, मैने तो नया अख़बार रखा है।" बावर्ची घबड़ाकर बोल उठा। यह बात नयी तो नहीं थी लेकिन आज ही उसका भण्डाफोड कैसे हुआ ?

"अबे हुज़ूर के बच्चे। तू मुझी को सिखाता है ?" आँखो की तेवरियाँ चढाते हुए मीर साहब ने कहा, "जैसे मै अंग्रेजी नहीं जानता। जरा देख तो कमबख़्त ! यह मुर्गी के मैले का पीला दाग़ कल जिस जगह था, ठीक उसी जगह आज भी है, और तू कहता है कि नया अख़बार रखा है ? अब कभी मेरी आँख में धूल झोंकने की कोशिश की तो याद रखना, मुझसे बुरा कोई नही।"

"जी हुज़ूर," कहकर बावर्ची चला गया और दूसरे दिन से उसने इतनी सावधानी ज़रूर की कि कम से कम मुर्गी का पीला दाग अख़बार पर तो हरगिज न रहे।

इस तरह पढ़ने से क्या फायदा ? दिल को झूठी तसल्ली और सामाजिक रोब गाँठने के सिवा इसका और कोई प्रयोजन नहीं होता।

कुछ लोगों का ख़याल है कि जितनी किताबे मिले, पढ़ डालना चाहिए। जो पढ लो, उसमें से पूरा नहीं तो कुछ तो दिमाग़ में बचा ही रहेगा, उतना तो फायदा है ही। अगर यह ठीक है तो फिर वह आदमी जो दिन भर, जब मौक़ा मिले, खाता रहे तो सबसे बडा पहलवान हो जाय !

दिमाग़ी ताक़त—शारीरिक शक्ति की तरह जो पाया है उसे हजम करने पर अवलम्बित है। कोई हर्ज नहीं यदि आपने गिनी-चुनी किताबे ही पढ़ी हों, बशर्ते कि आपने दिल लगाकर पढी हों और उसके अच्छे संदेश को हृदयगम कर लिया हो। एक अच्छी पुस्तक को ध्यान लगाकर

पढना तथा उसके दिव्य हेतु को आत्मसात करके उसे जीवन में उतारना अधिक अच्छा है, बजाय इसके कि सौ किताबें पढ़ना और बाद में उनके लेखकों के नाम तक भूल जाना।

आपको शायद पता होगा कि हिटलर एक भी किताब नहीं पढ़ता था। उसके पास बहुत बडी लायब्रेरी थी लेकिन वह खुद उसका उपयोग नहीं करता था। वह तो, उसके पास मिलने के लिए जो शास्त्रज्ञ और विद्वान आते थे, उनसे हजारों सवाल पूछकर अपना ज्ञान प्राप्त करता था, छपी हुई किताबों से नहीं।

गाधी जी भी इसी तरह बहुत कम किताबें पढ़ते थे। लेकिन जो किताबें उन्होंने अपने यौवन में पढ़ी थी, उनका असर उनपर इतना हुआ कि उनके जीवन की दिशा ही उनसे बन गयी। उन पर तीन पुस्तकों का गहरा असर पडा। एक तो बाइबिल, जिसकी वजह से उनकी अंग्रेजी भाषा बहुत शुद्ध और प्रभावशाली हुई और जीवन ईसामसीह की तरह हुआ। दूसरी रस्किन की 'अन्टू दि लास्ट' (Unto the last) जिसने उन्हें अर्थशास्त्र में क्रान्तिकारी मूल्यों की प्रतिष्ठा करने की दृष्टि दी और तीसरी टालस्टाय की 'वाट दैन मस्ट वी डू' (What then must we do) जिसने उन्हें सामाजिक शोषण की नीति का कट्टर दुश्मन बनाया तथा गरीबों की सेवा करने का व्रत—निश्चय दिया। इतनी कम पुस्तकों का इतना व्यापक असर आपको सम्भवतः और कहीं देखने को न मिले।

किसी अच्छी पुस्तक की उपयोगिता इस बात पर अवलम्बित नहीं है कि उसके लेखक ने उसमें क्या लिखा है, लेकिन इस पर है कि आप उसमें से कितना ग्रहण कर सके हैं। अगर आप उस पुस्तक के पास गम्भीरता, हठ, निश्चय और महत्वाकांक्षा को लेकर गये हैं तो वह आपके

लिए हीरे की खान साबित हो सकती है। लेकिन आप यो ही ध्येयहीन चहलक़दमी के इरादे से उसकी पगडंडियो में घूमना चाहते हैं तो आप को वहाँ सिवा काले पत्थर के कुछ न मिलेगा, आप ख़ाली हाथ ही लौटेंगे। भले ही वह पुस्तक बाइबिल हो, क़ुरान हो या गीता हो।

गरजे कि आपने चाहे जो पढ़ा हो, लेकिन उस पढाई के साथ अगर चिन्तन का जोड़ नहीं है तो उससे आप कोई फ़ायदा नहीं उठा सकेंगे। प्रसिद्ध अंग्रेजी कवियत्री एलीजाबेथ बैरट ब्राउनिंग का कथन है—'हम जरूरत से ज़्यादा पढ़ लेने की ग़लती करते हैं तथा हमारी पढ़ाई और चिन्तन में कोई मेल नहीं होता।'

इसलिए अगर आपने ज़्यादा पुस्तके नहीं पढ़ी हैं तो आपको लज्जित होने की जरूरत नहीं है। हो सकता है, कोई सज्जन आपकी इस 'अनभिज्ञता' पर तरस खाने लगे, पर आप अपने दिल पर उसका असर मत होने दीजिए, क्योंकि छपी हुई किताबो की जगह आपने यदि जीवन की जीती-जागती पुस्तिका की तरफ़ आँखे नहीं बन्द की हैं तो आप बिलकुल सही रास्ते पर हैं और आपको कोई चिन्ता नहीं होनी चाहिए।

कुछ महाशय एकाध किताब पढ़ लेते हैं तो बस वही उनके दिमाग़ और दिल पर छा जाती है। अगर उन्होंने टालस्टाय पढ़ लिया तो फिर वे सब—जिन्होंने टालस्टाय नहीं पढा, उनकी नजर से उतर जायँगे। वे जहाँ-कहीं बैठेंगे, बात-चीत करेंगे, वहाँ वे टालस्टाय ही टालस्टाय की चर्चा करेंगे। वे शायद यह भूल जाते हैं कि दूसरो ने टालस्टाय नहीं पढ़ा होगा तो गोर्की, तुर्गनेव या चेख़व पढा होगा या ऐमिल जोला, वाल्टेयर या रूसो पढ़ा होगा और हो सकता है कि उन टालस्टाय-भक्त महाशय ने सिवा टालस्टाय के और कुछ न पढ़ा हो। हमने जो चीज पढी और पसन्द की है, वही सब लोग पसन्द करे, यह आग्रह दुरुस्त

नहीं है। हर एक की अपनी-अपनी रुचि होती है, सबको एक ही नाप से नापना फिज़ूल है।

अतः जो सज्जन प्लेटो या कनफ्युशियस या बाल्मीकि के पढने का दंभ करते हैं और अपने उस अध्ययन का अहंकारयुक्त जाहिरा प्रदर्शन करते हैं, उन्होंने वे किताबें भले ही पढ ली हों, उनकी आत्मा को—स्पिरिट को—नहीं समझा है, इसलिए उनका अध्ययन और उसका अहंकार बेकार है।

अभी कुछ दिन पहले सीलोन युनिवर्सिटी के वाइसचान्सलर डाक्टर जेनिंग्ज़ ने एक भाषण मे कहा कि मै कालेजों में अंग्रेजी के बदले मातृ-भाषा के ज़रिए तालीम देने के पक्ष मे नहीं हूँ, क्योंकि फिर हिन्दुस्तानी लोग शेक्सपियर के परम सौन्दर्य का उपभोग न कर सकेंगे। अनुवाद से तो उस नाट्यशिल्पी की सारी कला ही मारी जायगी!—लेकिन जनाबे-आली! शेक्सपियर के न पढ़ने से ऐसा कौन-सा क़हर गुजरने वाला है, बताइए तो? आपके पास शेक्सपियर है तो हमारे पास कालिदास है। आपके पास मिल्टन है तो हमारे पास सूर, कबीर और तुलसी हैं। और शेक्सपियर के पहले भी हिन्दुस्तान जिन्दा था और तमाम दुनिया जिन्दा थी और उसके बावजूद भी रहेगी। माना कि वह एक बड़ा कलाकार है, लेकिन इसलिए आप उसे इतना सिर पर चढ़ा रखेंगे?

विश्व में ऐसे करोड़ों लोग हैं जिन्होने बडी-बड़ी किताबें नहीं पढ़ी हैं और न विश्वविद्यालयों की डिगरियाँ प्राप्त की हैं, लेकिन फिर भी उनका काम बड़े मजे में चलता है। वे अपना रोजगार, खेती-किसानी, अच्छी तरह जानते हैं और मानवता के मूलधन को लेकर अपनी जिन्दगी शुरू करते हैं और सफलतापूर्वक उसे पूरी करते हैं। हम अपने अहंकार मे, उनकी ओर उँगली उठाकर भले ही कहें—'अरे' उन बेचारे अपढ लोगों का क्या

जीवन है ?' लेकिन उन्हें हमारी सहानुभूति या दया की जरूरत नहीं है। जीवन और दुनिया से सम्बन्ध रखने वाली कई यथार्थ बातें हैं जो वे जानते हैं, लेकिन हम लोग—पढे-लिखे विद्वान्—नही जानते। बुद्धिमानी का छपी किताबो से कोई सम्बन्ध नही है। हाँ, पुस्तकें एक साधन मात्र हैं, जो जीवन को समझने में सहायक होती हैं, लेकिन उन्ही को सब कुछ मान लेना ठीक नहीं है।

एक प्रोफेसर और किसान का किस्सा कही पढ़ा था। दोनों साथ सफर कर रहे थे। यात्रा की तगी को दूर करने के लिए प्रोफेसर साहब ने किसान से बात करना शुरू की और यहाँ-वहाँ की कई बाते कीं। किसान भी जरा खुश-मिजाज था, सो वह भी बडी दिलचस्पी से बाते करने लगा। दोस्ती यहाँ तक बढ गयी कि दोनो ने साथ-साथ पान खाया, प्रोफेसर साहब ने अपनी सिगरेट भी अपने साथी को पिलायी। फिर इतनी मित्रता हो गयी कि प्रोफेसर साहब ने कहा 'मै पहेली कहता हूँ, तुम उसे बूझो और तुम कहोगे तो मै बूझूँगा।' किसान ने कहा—'हार-जीत के लिए कोई शर्त ?' तो प्रोफ़ेसर साहब बोल उठे—'एक-एक रुपया।' किसान ने अपनी गाँठ टटोलते हुए कहा—'मेरे पास तो सिर्फ एक अठन्नी है, मैं ग़रीब हूँ और आपसे कम पढ़ा हूँ, इसलिए मै हारा तो सिर्फ आठ आने दूँगा और आप हारे तो एक रुपया दीजिए।' प्रोफेसर साहब ने आत्मविश्वास के साथ, उदारतापूर्वक यह शर्त मजूर कर ली और कहा कि चलो तुम पहले शुरू करो।

किसान ने पूछा—"ऐसा कौन सा प्राणी है जिसके तीन पैर, चार हाथ और पॉच आँखे होती हैं ?"

प्रोफेसर साहब ने सिर खुजला कर कुछ देर सोचा, फिर कहा—"नहीं मालूम भाई; हार गये, लो यह रुपया। अब बताओ क्या जवाब है ?"

"मुझे भी नही मालूम, मै भी हार गया। लीजिए यह अठन्नी लीजिए।" और गाँठ से उसने अठन्नी निकाल कर प्रोफेसर साहब को दे दी और रुपया रख लिया।

यह किस्सा सच हो या न हो, लेकिन किसानो या दूसरे अपढ़ लोगो को महज इसीलिए बेवकूफ मान लेना कि उन्होने किताबे नही पढ़ी हैं, गलत है।

मैं पढ़ने के शौक के खिलाफ आवाज नही उठा रहा हूँ, सिर्फ उसके अनावश्यक महत्व की ओर उँगली उठा रहा हूँ। हम थोडी सी चुनी हुई, अच्छी पुस्तके ही पढ़े लेकिन खूब दिल लगा कर पढे और उन्हे जीवन मे उतारने की कोशिश करे। छपी हुई पुस्तको के पीछे हम जीवन की सबसे बडी पुस्तिका से विमुख न हो, बस। और हाँ, जो पढा है उसके बारे में अहकार न करे और न अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने की कोशिश करे। दुनिया में जो महान ज्ञान और चिन्तन है, उसके मुक़ाबले में हम कितना-सा जानते हैं?

महर्षि सुकरात को हम विश्व का सबसे बडा ज्ञानी और चिन्तक मानते हैं, क्योकि उसने दुनिया को तर्क-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र की देन दी है। लेकिन वह भी कहता था—"मै सिर्फ एक ही बात जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता।"

फिर आप हम जैसो की बात ही क्या है!

बड़ी आफ़त है !

श्यामसुन्दर ने पन्द्रह दिन की छुट्टी के लिए दरख्वास्त दी थी। बड़ी मुश्किल से ले-दे कर सात दिन की छुट्टी मंजूर हुई। जब दफ़्तर से उस के हाथ मे कागज़ आया तो बोल उठा—"बड़ी आफ़त है! दो साल से एक दिन की भी छुट्टी नहीं ली, रविवार को छोड़ कर। सरकारी छुट्टियाँ अलबत्ता मुझे सब मिली हैं...गरमी की छुट्टियाँ, दिवाली की, दशहरे की, बड़े दिन की, मुहर्रम की, क्रिकेट मैच की। पर मैंने अपने आप एक दिन की भी छुट्टी नहीं माँगी। और आज जब मेरी दो महीने की छुट्टियाँ जमा हैं तो साहब एक हफ़्ते से ज्यादा की उदारता न दिखा सके। बहाना किया कि अगली पहली से वार्षिक परीक्षा शुरू हो रही है। बड़ी आफ़त है!"

श्यामसुन्दर एक कालिज में क्लर्क है। क्योंकि वह शिक्षा विभाग में है, अन्य महकमों के कर्मचारियों से कहीं ज्यादा छुट्टियाँ पाता है।

साल भर मे मुश्किल से आधे दिन उसे हाजिरी देनी पड़ती होगी। फिर भी उसे लगता है कि उस पर बडी आफत है, वह जो चाहता है वह हो नहीं पाता—यह दुनिया बडी विचित्र है।

लेकिन श्यामसुन्दर हमारे देश मे अकेला नहीं है। उसी की तरह लाखो-करोड़ो लोग हैं, जो अनुभव करते हैं कि उन का जीवन चारो ओर से मुसीबतों से घिरा हुआ है, उन जैसा अभागा कोई नही, वे सब आफत के मारे हैं।

टिकट-खिडकी पर टिकट मिलने मे जरा देर हुई कि उन के मुँह से निकला ही समझिए—'बडी आफत है।' रेल सफर में सोने की जगह न मिली तो बडी आफत है। सिनेमा के टिकिट मिलने मे धक्के-मुक्के खाने पड़े तो बडी आफत है। सब तरफ से आफत ही आफत है। पर ये भी एक बहादुर हैं जो इतनी आफतो के बाद भी डटे हुए हैं। और कोई होता तो कब का आत्महत्या कर चुका होता!

मजा यह है कि और किसी पर इस प्रकार की आफतें गुजरे तो यह महाशय उसका मजाक उडायेंगे कि वह जरा-सी तकलीफ़ नहीं बरदाश्त कर सकता। अगर देखा जाय तो दरसल ये हैं तो छोटी-मोटी तकलीफें, जो जीवन मे आती ही रहती हैं, पर इन्हीं के कारण जीवन में जायका आता है। उन्हें आफत समझना उस शब्द का दुरुपयोग है।

पर मनुष्य स्वभाव में एक कमजोरी होती है। उसे औरों को यह बताने में बड़ा सुख मिलता है कि वह घोर विपत्ति भोग रहा है, जिसके कारण वह दूसरों की कुछ सहानुभूति पा सके। यह सहानुभूति या दया पाने की क्षुधा प्रत्येक मानव हृदय मे गुप्त रूप में किन्तु मजबूती के साथ छिपी रहती है।

इस कमजोरी ने इतना व्यापक रूप ले लिया है कि सारे देश में

बड़ी आफ़त है !

आमतौर पर यही ख़याल है कि हम लोग बड़ी आफत मे से गुजर रहे हैं। व्यक्ति से समाज बनता है, समाज से देश। जो भावना व्यक्ति के हृदय म विद्यमान है, वही तो आगे चल कर राष्ट्र की भावना बन जाती है।

हॉ, हम पर मुसीबते जरूर हैं, और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमारे देश ने जो भोगा है वह कम नही है। वह तो हमारे देश की अद्भुत अव्यक्त शक्ति है —जिसके बल पर हम इतने संकटो का सामना कर सके। पर और देशों का क्या हाल है ?

भारत अकेला ही तो देश नहीं है जहॉ ये बाते हो रही हैं। जर्मनी का क्या हाल है ? सारे देश का विभाजन कर उसे लगभग गुलामी में जकड़ दिया है—ऐसे देश को जो विश्व विजय की ताक़त रखता था। रोज की आवश्यकताओ तक की पूर्ति होना अब वहॉ कठिन हो रहा है। फ्रास की भी हालत ख़राब है।

इग्लैण्ड का क्या हाल है, जिसके अधीन हम लोग अभी तक थे। वह तो महायुद्ध मे विजयी हुआ है, अमेरिका की उसे काफी मदद रही है, भारतीय साम्राज्य की लूट-खसोट भी वहॉ मौजूद है। फिर भी वहॉ आज क्या स्थिति है ? नागरिको को खाने-कपड़े का राशन मिलता है, अडे और मक्खन कूपन से मिलते हैं, कोयला और बिजली पर नियन्त्रण है, देश का आर्थिक पुनर्निर्माण करना है इसलिए सारा अच्छा माल विदेश भेजना पड़ता है, घर में घटिया चीज का उपयोग कर तगी से रहना पड़ता है। जीवन का सघर्ष आज भी अत्यन्त प्रखर है। फिर भी वहॉ इतना अनुशासन और नागरिकता की भावना है कि सारा देश मानो हॅसते-हॅसते अपनी मुसीबत भोग रहा है। और ख़ास बात यह है कि ये सारी मुसीबते सात वर्ष के घनघोर युद्ध के बाद, बम वर्षा, नगरों के ध्वंस, युवको की

सामूहिक मृत्यु के बाद लगातार भोगनी पड रही हैं। सारी पीढी की पीढी चक्की मे पीसी जा रही है, पर मुँह से अलिफ नही। दुनिया के सामने मुँह बा कर घिघियाना नहीं, रोना पीटना नही। इसी को तो राष्ट्रीय चरित्र कहते हैं।

हमारे यहाँ अभी वह बनना बाकी है। सदियो की गुलामी के कारण हमारा तेज और आत्मसम्मान क्षीण हो गया था। लडाई के कारण अनैतिकता और भ्रष्टाचार का जोर बढा। सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन मे दरारे पडने लगी। स्वार्थ और भोगलिप्सा की प्रवृत्ति बढने लगी, चरित्र बल कमजोर पड़ गया, आदर्श निष्ठा और सिद्धात-प्रियता का लोप होने लगा। परिणाम यह हुआ कि विपत्ति या विपरीत परिस्थिति की जरा-सी भी आँच बर्दाश्त करने की शक्ति हम मे नहीं रही।

ये लक्षण हमारे लिए अच्छे नही हैं। ऐसी बात नही कि यह हमारा राष्ट्रीय स्वभाव ही बन गया है। अभी हम उस दुर्भाग्य से बचे हुए हैं। पहले ऐसे मौके आ चुके हैं जब देश उठा है, स्वार्थों से ऊपर खडा हुआ है। सन् तीस और बयालीस के आन्दोलन इसके साक्षी हैं, जब विपदाओ से टक्कर लेकर मरण-त्यौहार मनाने का सबक हमने सीखा था। इसलिए भविष्य में भी हम फिर उठ सकते हैं, ऐसा हमे विश्वास रखना चाहिए।

केवल सरकार या नेताओ को दोष देकर हम चुप नही बैठ सकते। उनका दोष है ही नहीं, यह बात नही। पर इसके निवारण के लिए हम सब, व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक नागरिक जिम्मेदार हैं। यदि हम अपना कर्तव्य न करें तो दूसरों को दोष देने का हमें क्या हक़ है ?

आफत को आफत मानना या न मानना हमारे हाथ की बात है। कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जैसे मकान मे आग लग जाना या अपने किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु, जो सचमुच हमारे हृदय को भयकर धक्का देती हैं।

बड़ी आफत है !

अधिकाश घटनाएँ हमे थोड़ी-सी असुविधा जरूर देती हैं । पर हम उन्हे अतिरजित दृष्टि से बढ़ा-चढ़ा कर देख कर उन्हें मुसीबतें मानने लगते हैं । रस्सी को सॉप मान कर कॉप उठने वाले व्यक्ति हमारे समाज मे कम नही हैं।

जेल मे मेरे एक साथी थे जिन्हे डेढ साल की सजा हुई थी । रोज दिन गिनते थे...कब छूटेगे, कब छूटेगे ? छः महीने हुए तब बोले, "अरे बाप रे, अभी तो केवल छः महीने ही हुए हैं ।"

मैंने कहा, "अरे, अब तो डेढ साल की जगह एक ही साल बचा है । उसे जाते क्या देर लगती है ?"

कारावास के काले सीकचों मे से कोई जमीन का कीचड या जेल की दीवार का टुकड़ा देखकर दुखी होता है, तो कोई आसमान के तारे देख कर खुश हो लेता है ।

जब मै बोर्डिंग मे था तो अपने कमरे के साथी के साथ आवश्यक चीजे साझे में ख़रीदा करता था । ख़ुशबूदार तेल की बोतल जब आधी रह गयी तो वह बोला—" देखो यार, तेल कितनी जल्दी ख़त्म होता है । बीस दिन मे बोतल आधी खाली हो गयी ।"

"अरे वह खाली, कहाँ हो गयी ? अभी तो वह आधी भरी है," मैंने कहा ।

एक ही चीज को देखने के दो पहलू होते हैं । यह तो अपनी-अपनी वृत्ति की बात है । निराशावादी हमेशा बुराई ही देखता है, आशावादी हमेशा पहले अच्छी बात देखता है । अत मे होता वही है जो होना होता है । पर इस बीच में निराशावादी चिंता के मारे अधमरा हो जाता है, और आशावादी ख़ुशदिल हो कर इतने दिनो की व्यथा तो बचा ही लेता है ।

इसीलिए तो शेक्सपियर ने कहा है कि कायर आदमी मौत के पहले कई बार मर चुके होते हैं—इसी ख़याल से कि मौत अब आयी, अब आयी। और बहादुर आदमी तो एक ही बार मरता है, जब कि साक्षात् मृत्यु ही उसे घेर लेती है।

पिछली लडाई में इंग्लैण्ड में घर-घर में सकट छाया हुआ था। अनिवार्य भरती के कारण कोई भी युवक फौज से नहीं बच सकता था। उस का क़ानून पास होने ही वाला था। सब तरफ चिंता के बादल मँडरा रहे थे। पर एक नौजवान बिलकुल बेफिक्र हो कर घूम रहा था। उसके दोस्त ने पूछा—"क्या तुम्हें इस क़ानून के कारण फिक्र नही होती?"

"फिक्र? इस मे फिक्र की क्या बात है? अभी तो कमबख़्ती बहुत दूर है।"

"दूर है, सो कैसे?"

"अरे, क़ानून या तो पास होगा या नहीं होगा। नहीं हुआ तो फिक्र की कोई बात नही।"

"नही कैसे होगा? वह तो जरूर होने वाला है।" दोस्त ने कहा।

"अगर हुआ तो या तो मै फौज मे भरती कर लिया जाऊँगा या नहीं किया जाऊँगा। भरती न किया गया तो फिक्र की कोई बात नहीं।"

"तुम ज़रूर भरती किये जाओगे—सभी युवक जबरदस्ती भरती किए जायँगे। आखिर कानून पास करने का मतलब?"

"मान लिया, भरती किया गया तो या तो मैं मोरचे पर भेजा जाऊँगा या नहीं भेजा जाऊँगा। नहीं भेजा गया तो फिक्र की कोई बात नहीं।"

"और भेजे गये तो?"

"भेजा गया तो या मै मारा जाऊँगा या नहीं मारा जाऊँगा । वह तो किस्मत की बात है । नही मरा तो फिर फ्रिक की कोई बात नही ।"

"और मर गये तो ?"

"मर गया तो मर जाऊँगा—फिर फ्रिक करने का कोई सवाल ही नही उठता ।"

वह अपने दोस्त की फिलसफी देख कर दग रह गया । नतीजा यह हुआ की रगरूट अफसर का इतजार किये बिना वह स्वयं भरती दफ्तर मे जाकर अपना नाम लिखा आया ।

हम यदि क्षणिक आवेग को महत्व न देकर जरा गभीरता से सोचे तो इसी नतीजे पर पहुँचेगे कि जिसे हम व्यथा और विपदा कहते है, वह यथार्थ मे शत्रु नही, मित्र है ।

ऐसी जिन्दगी जिस मे कोई चढ़ाव-उतार नहीं, कोई दुख नहीं, बिलकुल नीरस और फीकी होती है । जीवन के युद्ध मे चोटे और आघात बर्दाश्त करने से ही उस मे विजय प्राप्त होती है, उस मे लुत्फ आता है ।

दुनिया के जितने बड़े आदमी हुए है—धनिक हो, राजनीतिज्ञ हो, कलाकार हो—कठोर अनुभव और विपदाओ से गुजरे बिना उन की उन्नति नहीं हुई है । शिल्पकार की हथौड़ी के प्रहार खाये बिना देवता की मूर्त्ति बनती ही नही ।

अग्रेज़ कवि शैली ने कहा है कि हमारे सब से मीठे गीत वही होते है जो हमारी व्यथा को व्यक्त करते हैं । वही कवि अन्यत्र कहता है कि अन्याय और प्रताड़ना भोगने के कारण साधारण से साधारण व्यक्ति भी गायक हो जाता है और अपने गीतो मे वह उन्ही बातो को सिखाता है जो उसने अपने स्वयं के दुखभोग मे सीखी हैं ।

"इसलिए वेदना या दुख से घबराने का कोई कारण नहीं है। जो धूप मे चलते हैं वे ही जानते हैं कि झाड की शीतल छाया मे कितना आह्लाद और उल्लास है। खस की टट्टियो के भीतर बैठने वाले इसे क्या जाने ?

एक कहावत है कि "मरे बिना स्वर्ग नहीं दिखता।" हमारे समाज में मरणोत्तर जीवन की कल्पना है। जो इस जीवन मे अच्छा कार्य करता है उसे सुंदर, सुखकर, देवो का स्वर्ग मिलता है, जो बुरा काम करता है उसे सॉप-बिच्छुओ से भरा हुआ राक्षसो का नरक मिलता है, यह विश्वास है।

नरक जिसे मिलता हो मिले, पर स्वर्ग पाना आसान नहीं, इतना तो मानना ही होगा, क्योकि उसके पहले मरना होता है। इसी का तो मानव को सब से ज्यादा डर लगता है। मृत्यु भयकर है, अप्रिय है, यही तो सब का ख़याल है।

किसी शायर ने ठीक ही कहा है:

गिरा जो दाना जमीं पर, निहाल हुआ,
हयात बाद हुई, पहले इतकाल हुआ।

बड़े-बडे ऋषियो का अनुभव तो यही बताता है कि व्यथा और वेदना की पाठशाला में जो सबक सीखे जाते हैं, वे पुस्तकों तथा मानव-निर्मित विश्वविद्यालयो म नहीं मिलते।

अग्रेज कवि मिल्टन का ही उदाहरण ले लीजिए। उस का सब से प्रसिद्ध अमर काव्य 'पैरेडाइज लास्ट' तो उसी समय लिखा गया जब वह पूरा अधा हो गया था। बाहर का प्रकाश बद हुआ तो अन्तर्ज्योति का स्निग्ध आलोक जगमगाने लगा। दाते ने अपने सारे महाकाव्य दारिद्रय और देशनिर्वासन के काल मे लिखे। जर्मन सगीतज्ञ बेटोफन ने अपनी श्रेष्ठतम सगीत कृतिआँ उस समय निर्माण की, जब वह बहरा हो गया था।

ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि आपत्तियाँ बुरी नही हैं— हम अपने अज्ञान या आरामतलब स्वभाव के कारण भले ही उन्हें उस दृष्टि से देखें या उन से घबरा जायँ। पर जब वे निकल जाती हैं—और जाती वे जरूर हैं—तब हम ख़ुद अनुभव करते हैं कि उन्होंने हमे बहुत कुछ सिखाया है। इतना ही नहीं बल्कि उन अनुभवों को नमक-मिर्च लगा कर अपने दोस्तो को सुनाने मे हमे विशेष मजा आता है।

एक युरोपियन सगीत विशेषज्ञ की मजेदार कहानी बतायी जाती है। उसके पास सगीत सीखने के लिए एक युवती आती थी। उसने सगीत का शास्त्रीय ज्ञान तो काफी प्राप्त कर लिया था, पर उसकी कला मे आत्मा नही थी—उस मे भावो का आवेग नहीं था। उस सगीतज्ञ ने इस पर राय दी, "यह सुन्दरी सचमुच अच्छा गाती है, पर इस मे एक दोष है, और वही दोष सब कुछ है। यदि मैं अविवाहित होता तो इसके साथ प्रेम करता, विवाह करता, फिर इस के साथ दुर्व्यवहार करता और उसका हृदय टूटने देता। इसके बाद छः महीने के भीतर ही आप देखते कि वह यूरोप की सब से श्रेष्ठ गायिका बन गयी है।"

तीसरी भूख

इस कहानी मे केवल विनोद ही नही है, एक बडा तत्व है। कला और व्यथा का अनिवार्य सम्बध है। कलाओ मे सबसे श्रेष्ठ है–जीवन-कला। उस में सिद्धि पाने के लिए मुसीबतो से घबराने की कोई जरूरत नही बल्कि उनका तो हमे स्वागत करना चाहिए। जिन्होने जीवन मे कुछ कर दिखाया है, उनके मुँह से आप सहसा यह कभी न सुनेगे कि बडी आफत है। ये शब्द अक्सर उन्ही के मुँह से निकलते हैं, जिन पर सचमुच आफत नहीं आती है, लेकिन जिन्हे आफत का आभास मात्र होता है।

तार की कसरत



जब हम सर्कस देखने जाते हैं तब अक्सर हमे तार की कसरत का खेल देखने को मिलता है। एक पतले तार पर युवती स्त्री छाते के ज़रिए कई तरह के कौशल दिखलाती है, कभी नाचती है, कभी पैर के अँगूठे के बल पर खड़ी रहती है तो कभी दौड़ती है। जब वह कोई खेल सफलतापूर्वक कर लेती है तो हम ताली पीट कर उसकी वाहवाही करते हैं। लेकिन अगर उसका तौल जरा भी बिगड़ गया तो ? तो फिर वाहवाही तो दूर रही, वह बेचारी धडाम से जमीन पर गिर पड़ेगी और सिर फोड़ लेगी या मुमकिन है जान से भी हाथ धो लेगी। ऐसी दुर्घटना बचाने के लिए कई सर्कस वाले लोग नीचे एक जाली ताने खड़े रहते हैं, ताकि वह गिरे तो उसी में गिरे। इस खेल की तारीफ़ उस लड़की के तौल में है। तौल बिगडा कि मामला ख़त्म।

यही बात जीवन में भी सही है। हमारे जीवन में विविध शक्तियो का असर पड़ता है। जैसे 'भावना, तर्क, शरीर-बल, आत्म-बल, प्रेम, द्वेष

फा० ३

इत्यादि। अक्सर ये शक्तियाँ विरुद्ध दिशा मे खींचती हैं। जो इन शक्तियों का उचित समन्वय कर सकता है उसे हम सफल मानते हैं। जो यह नहीं कर पाता, वह जिन्दगी मे नाकाम तो होता ही है, कई तरह की मुसीबतें भी उठाता है। जब कोई पागल हो जाता है तो हम कहते हैं—इसके दिमाग़ का 'स्क्रू' ढीला हो गया है या दिमाग़ का तौल बिगड़ गया है। साइकिल की सवारी करते-करते कोई दुर्घटना हो जाय तो हम कह उठते हैं—भाई, मेरी साइकिल का बैलेन्स बिगड़ गया इसलिए मैं गिर पड़ा। यही बैलेन्स या संतुलन ही जीवन की सफलता की सबसे आवश्यक शर्त है।

तार की कसरत का उदाहरण देने से मन मे यह ख़याल पैदा हो सकता है कि जीवन मे तौल प्राप्त करना दरअसल मुश्किल काम है। वह तो सर्कस की उस युवती की तरह लम्बी कोशिश और अभ्यास से ही प्राप्त हो सकता है और फिर भी वह सबके बूते की बात नहीं है। तब तो बडी कठिन बात है। सर्व-साधारण को यह प्राप्त कैसे हो सकती है?

हाँ, सच बात कहना है तो यही कहना होगा कि यथार्थ मे यह तौल हासिल करना आसान नहीं है। उसके लिए सतत् प्रयत्न करने की जरूरत है। बग़ैर साधना के यह चीज़ नही मिल सकती। लेकिन जब मिलती है तब दुनिया पुकार उठती है—बस, आदमी है तो यही है, इसी का आदर्श आने वाली पीढ़ियाँ मानेंगी। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, गाधी इसी प्रकार के महापुरुष हैं, जिन्होंने अपने जीवन का तौल अधिक-से-अधिक मात्रा मे स्थिर किया है।

जो इतना ऊँचा नहीं उठ सकते, उन लोगों के लिए निराश होने का कारण नहीं है। हम जैसे साधारण लोगों की तसल्ली के लिए यह सत्य जान लेना आवश्यक है कि इस तौल को प्राप्त करने के लिए जो प्रयत्न करेंगे, उसी परिमाण में हमें सफलता मिलेगी। भले ही हमें सोलह-आने

कामयाबी न मिले, आठ आना, छः आना तो मिल सकती है। दो आने भी मिले, तब भी हमारी कोशिश फिजूल नहीं गयी। इसमें परदेश के हंस जैसी बात नहीं है कि वह चुनेगा तो मोती चुनेगा, नहीं तो भूखा रहेगा। जो जितनी कोशिश कर सके, उसे उतनी ही सफलता मिलेगी, उतना ही जीवन का आनन्द मिलेगा। इसीलिए इस तौल—समन्वय—की प्राप्ति के लिए यत्नशील होना प्रत्येक व्यक्ति के लिए वाछनीय है।

इतिहास और साहित्य में ऐसे महारथियो के चित्र अकित किये गये हैं, जिन्होने विश्व-विजय की दुर्दम्य महत्वाकाक्षा रखी थी। किन्तु इस तरह के सार्वभौमत्व की कल्पना मानव जाति के धर्म या प्रकृति के नियमो से मेल नही खाती है और इसलिए वह सर्वतः एकागी हो जाती है। एकागी होने का अर्थ ही यह है कि उसका सतुलन बिगड गया है। उसका परिणाम अवश्यम्भावी पराजय ही है। ऊपरी तौर पर जो फतह दिखायी देती है, उसी में अन्दर से शिकस्त की घुन लग जाती है, जिसका नतीजा होता है—जितनी बड़ी महात्वाकांक्षा उतना ही भयकर सर्वनाश।

बादशाह सिकन्दर का यही स्वप्न था लेकिन जिस पजाब की भूमि पर उसने महाराजा पुरु को पराजित किया, उसी भूमि पर उसकी सेना मे बलवे का झण्डा खड़ा किया गया और सिकन्दर को वापस लौटना पडा। उसी दिन से सिकन्दर का सूरज डूबने लगा। रोम के सम्राट ज्यूलियन-सीजर की महत्वाकाक्षा भी असीम थी, किन्तु वह अपने ही विश्वस्त मत्रियो द्वारा दिन-दहाड़े मार डाला गया। नेपोलियन ने भी इसी प्रकार विश्व-विजय के स्वप्न देखे थे, लेकिन उसे मास्को से जीर्ण और जर्जरित होकर लौटना पड़ा, जिसका पर्यवसान सेंट हेलिना के बन्दिवास मे हुआ। ये सब उदाहरण यही बतलाते हैं कि जब महत्वाकाक्षा एक सीमा के परे चली जाती है तो औचित्य से उसका समन्वय नष्ट हो जाता है, और उसका परिणाम विनाश में होता है।

शेक्सपियर ने कुछ सुन्दर दुःखान्त नाटक (ट्रेजेडी) लिखे हैं। उनमें भी मूल-तत्त्व यही है कि जीवन में ट्रेजेडी (भयंकर दुर्घटना) होती है, उसका कारण है, जीवन का संतुलन टूट जाना। हेमलेट की असीम वेदना और असफलता का कारण है—उसके आचार और विचार के समन्वय का अभाव। जब वारा-न्यारा करने की सुवर्ण सन्धि आती है तब वह तलवार चलाने के बजाय सिर खुजलाते हुए सोचता रहता है—"To be or not to be, that is the question." ऑथेलो की दुर्घटना का कारण है—आत्यन्तिक शक। ऑथेलो ने एक बार अपनी पत्नी डेसडेमोना के चरित्र पर सन्देह करना शुरू किया, तो वह इतनी दूर तक चला गया कि उचित अनुचित की सीमाएँ लाँघ गया। किसी भी भावना की आत्यन्तिकता (Extreme) का ही अर्थ है—समन्वय का अभाव। और उसी का परिणाम है दुःख, वेदना। इसी प्रकार 'मैकबेथ' और 'किंगलिअर' तथा गेटे के 'डा० फास्टस' की ट्रेजेडियों की कारण-मीमांसा की जा सकती है।

क्या साहित्य में, क्या इतिहास में, क्या जीवन में, वही चरम सिद्धान्त सत्य है कि विभिन्न शक्तियों के समन्वय में सुख और सफलता तथा उसके अभाव में क्लेश और असफलता समायी हुई है।

इन बड़े-बड़े विश्व-नायकों को छोड़ दें और हम अपने ही रोजमर्रा के साधारण जीवन की ओर नजर डालें तो यही सत्य हमें दिखलायी पड़ता है। संसार को बहुरंगे चित्रों की प्रदर्शिनी की उपमा दी जाती है, क्योंकि उसमें इतनी भाँति के लोग मिलेंगे कि कोई भी दो आदमी समान नहीं होते। जितने व्यक्ति उतनी ही प्रकृत्ति। कुछ लोग तो अत्यन्त भावनाशील होंगे। उनका हृदय ही उनका राजा है। दूसरे नितान्त तर्कशील मिलेंगे, जिनकी नियंत्रक शक्ति है—दिमाग। पहली श्रेणी के लोग भावना के आवेग में खून जैसे भयंकर कृत्य भी कर डालेंगे, दूसरे अपने पिता की

मृत्यु के समय रुपये, आने, पाई का हिसाब करते दिखायी देंगे। ये दोनों ही अंतिम स्थितियाँ ग़लत हैं। हमें भावना की जरूरत है और विचार की भी। भावनाओं को विचारों से सलाह ले लेनी चाहिए और विचारों को भावनाओं का आदर करना चाहिए। तभी मानव जीवन श्रेयस्कर और सफल हो सकेगा।

यही बात ज्ञान और कर्म के बारे में भी सच है। कुछ लोग तो अध्ययन और पण्डिताई में उलझ कर इस तरह के पुस्तक-कीट हो जाते हैं कि जिन्दगी के बड़े से बड़े सवालों को यूक्लिड के सिद्धान्तों के मुताबिक सुलझाने का प्रयत्न करेंगे। किसी भी शिक्षा या सिद्धान्त के तत्व में व्यवहार का जोड़ मिलाने के लिए वे तैयार नहीं। जो किताब में लिखा होगा या जो गुरुजी बतलायेंगे वही सच है, बाकी सब—? प्रश्नचिन्ह!

स्वामी रामकृष्ण के शिष्य की एक मनोरंजक घटना है। स्वामी जी ने एक दिन अपने प्रवचन में कहा—'सब प्राणियों में ईश्वर विद्यमान है, हमें उसका आदर करना चाहिए।' बस एक शिष्य महोदय बाहर निकले तो सब प्राणियों को—गधे, बैल, कुत्ते को भगवान समझकर नमस्कार करने लगे। इतने में एक हाथी जो पागल हो गया था, चिंघाड़ता हुआ आया। उसका महावत हाथी पर ही बैठा-बैठा उसे क़ाबू में लाने की कोशिश कर रहा था। लेकिन उसे सफलता नहीं मिल रही थी। इसलिए वह चिल्ला-चिल्ला कर लोगों को आगाह कर रहा था—'बचो, बचो! भागो, भागो! हाथी पागल है।' लेकिन हमारे शिष्य महाशय क्यों भागने लगे? वे हाथ जोड़ कर और नतमस्तक होकर हाथी देव के सामने खड़े हो गये, पर देवता ने उनकी पूजा की कोई परवाह नहीं की, ऐसी सूँड फटकारी कि वे कई हाथ दूर जा गिरे और ख़ून से लथपथ हो गये। जब स्वामी रामकृष्ण ने पूछा, "तुम भागे क्यों नहीं?" तो जवाब मिला, "हाथी में तो ईश्वर है न? मैं उस ईश्वर के सामने से कैसे भाग

सकता था ?" स्वामी जी ने मुस्कराते हुए कहा, "पागल हाथी में जो ईश्वर था उसकी बात तो मान ली, लेकिन उस महावत मे बसा ईश्वर जो तुम्हे आगाह कर रहा था, उसकी बात क्यो नही मानी ?"

ऐसे ही पुस्तक-कीटो की जो श्रेणी पैदा हुई है उसे 'पठन मूर्ख' कहते हैं। किताबे तो सब पढ ली हैं, फिर भी कोरे के कोरे बने हुए हैं। विचार सब दिमाग मे हैं लेकिन उसमे इस क़दर पक्का ताला लगा हुआ है कि कहीं ग़लती से भी कोई विचार प्रत्यक्ष जीवन और व्यवहार में काम न आ जाय !

जो कोई हर वक्त गहन विचार मे लीन रहता है उसे मजाक मे लोग फिलासफर कहने लगते है। मतलब यह कि वह अपनी ही खयाली दुनिया मे इस तरह मशगूल रहता है कि उसे बाहरी दुनिया की कोई ख़बर नहीं रहती। और जो जितना ज्यादा बेख़बर रहता है उसे उतना ही बड़ा चिन्तक मानने का कुछ रिवाज-सा हो गया है। जिनके बारे में इस तरह का ख़याल होता है, वे इसे नाज की चीज मानते हैं। लेकिन विश्व का आद्यचिन्तक अफलातून (प्लेटो) ऐसा नही मानता। उसकी यही राय है कि जो जितना बडा चिन्तक (फिलासफर) है, उसे उतना ही अधिक व्यवहार-कुशल भी होना चाहिए, यानी चिन्तन और व्यवहार का समन्वय होना चाहिए। इसी विचार प्रणाली के कारण उसने दार्शनिक ही शासक हो (Philospher as king) की कल्पना ईजाद की थी। किन्तु आजकल तो फिलसूफ़ की कल्पना इससे बिलकुल विपरीत है। फिलासफी के प्रोफेसरो के बारे मे इसीलिए कई मजाक चल गये हैं। ऐसे ही एक प्रोफेसर साहब की बात है। वे शाम को अकेले घूमने गये, अकेले न जायें तो फिलसूफ़ कैसे ? लौटे तो अपने विचारो मे इतने मशगूल थे कि हाथ की छडी तो उन्होने बिस्तर पर लिटा दी और ऊपर से कम्बल ओढा दिया और ख़ुद कोने में जाकर चुपचाप खड़े रहे—उस मुक़ाम पर

जहाँ उनकी छड़ी रहती थी। इसी तरह अपनी तन्द्रा मे न जानें कितनी देर खड़े रहे, लेकिन जब दीवार से सर टकराया तब उन्हें होश हुआ और अपनी हालत देखकर बड़े शर्मिन्दा हुए। तब जाकर उन्होंने छड़ी को कोने में टिकाया और ख़ुद बिस्तर पर जाकर सोये। ऐसे दृश्य आपको कम नहीं दिखायी देंगे।

लेकिन इसके विपरीत आपको ऐसे आदमी मिलेंगे जो सिवा व्यवहार-कुशलता के और किसी बात का दावा नहीं करते। इसी स्वभाव की अंतिम हालत खुदग़र्ज़ी, नीचता और औचित्य-अनौचित्य का एकदम अभाव है। ऐसे पिता के बारे मे क्या कहा जाय जो अपनी पन्द्रह वर्ष की कुँआरी कन्या को ४६ वर्ष के बूढे के साथ—जिसकी यह तीसरी शादी है—ब्याह देता है, क्योकि इस सौदे मे उन्हे ढाई हजार रुपये मिलने हैं। यह काल्पनिक नहीं, सच्ची घटना है और ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं। तारीफ़ यह कि उन पिता महोदय की हालत इतनी बुरी नहीं है कि रुपये के लिए इतना नीचा काम करना पड़े। पुलिस इन्सपेक्टरी से पेंशनयाफ़्ता हैं, पेंशन भी पा रहे हैं और बैंक मे कुछ रक़म भी है। फिर भी उन्हें अपनी एकमात्र कन्या की भावनाओ का ख़याल नहीं। जाते वक्त वे अपनी लड़की को पति को देव मानने की हिदायत देने में नहीं चूके। ख़ुद तो पितृधर्म का गला काट चुके, लेकिन पुत्री को पतिव्रत धर्म पालन का उपदेश देते हैं। उनसे पूछा तो कहने लगे कि दुनिया में 'सैंटिमेण्टल' (भावनाशील) होने से काम नही चलता। व्यवहार मे तो ऐसा करना ही पड़ता है। मैंने कोई नयी बात तो की नही। लड़की चार-छः दिन रोयेगी, लेकिन बाद में वह अपने पति के प्रति श्रद्धा करने लगेगी। हिन्दू स्त्री का तो यही धर्म है।

इस प्रकार के अतिरेक के उदाहरण कई मिलते है। जाहिर है कि ऐसे एकागी व्यक्तियों का जीवन दुखदायी और असफल हो जाता है, तथा

वे अपने आत्मीयो तथा मित्रो के कष्टो के लिए भी कारणीभूत होते हैं। दोनों ही अतिरेक त्याज्य हैं—ग़लत हैं। हमे सुवर्ण-मध्य ही खोज कर निकालना होगा। उसके बिना ज़िन्दगी सफल नही हो सकती। ध्येय और व्यवहार, ज्ञान और कर्म, भावना और तर्क इत्यादि सब द्वन्द्वों का उचित समन्वय करना होगा। सत विनोबा ने ध्येय और व्यवहार की व्याख्या एक छोटे से समीकरण द्वारा बडी सुन्दर रीति से की है। वे कहते हैं—"अन्तिम ध्येयवाद—पुरुषार्थ-हीनता, अन्तिम व्यवहारवाद—हीन-पुरुषार्थ, इन दोनो खाइयों के बीच मे से हमे जाने की जरूरत है। नहीं तो हम औंधे गिर पडेगे।"

लोकमान्य तिलक का कथन है कि स्वराज्य प्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म की जोडी न टूटे। आजतक बुद्धिमानी और कर्मण्यता का मेल ही नहीं था। एक का मुँह पूर्व की ओर था तो दूसरे का पश्चिम की ओर। इसीलिए स्वराज्य के दर्शन नहीं हुए। जो बात स्वराज्य के लिए सही है, वही तमाम जीवन के लिए भी ठीक है।

इसलिए हमे यदि अपनी उन्नति या उद्धार करना है तो ज्ञान और कर्म का, वृद्धो के अनुभव और युवको के उत्साह का, स्त्रियो की बुद्धिमानी और पुरुषो की सृजन शक्ति का, ब्राह्मणो के शास्त्र और अ-ब्राह्मणो की कला का, हिन्दुओ की नीति और मुसलमानो की शक्ति का, भिक्षुओ के धर्म और गृहस्थो के कर्म का समुच्चय करना होगा। यही समन्वय या तौल सफलता की कुजी है। यह है तो तार की कसरत जैसा कठिन, लेकिन उसके फल भी उतने ही मीठे होते हैं।

जीवन की किताब



जब १६३१ में गान्धी जी गोलमेज परिषद् मे शरीक होने के लिए लन्दन गये थे, तब उनके साथ उनकी यूरूपियन शिष्या और अनन्य लेखिका मीराबेन भी थीं। मीराबेन अंग्रेज एडिमिरल स्लेड की कन्या हैं और चूँकि उनका मित्र परिवार इंगलैण्ड में काफी बड़ा है, उनसे मिलने के लिए और विशेषतः उनका यह सन्यस्त जीवन देखने के लिए कई पुराने मित्र आये। एक ने उनसे उनकी दिनचर्या पूछी, सो उन्होंने सुबह चार बजे उठने से लेकर रात को ग्यारह बजे सोने तक, सब कार्यक्रम बतला दिया, जिसमे गान्धी जी के नाश्ते का प्रबन्ध, उनके कपड़े धोना, चरखा कातना इत्यादि-इत्यादि सब बातें आ गयी, लेकिन उसमे किताबों के पढ़ने के लिए कोई समय नहीं था। उस मित्र ने आश्चर्य चकित होकर पूछा—"यह सब तो ठीक है, लेकिन आप पुस्तके पढ़ने के लिए वक्त नहीं निकालतीं ?" मीराबेन ने तुरन्त जवाब दिया—"मै तो गान्धी जी के साथ प्रत्यक्ष जीवन की किताब पढ़ने मे ही इतनी व्यस्त हूँ कि छपी

हुई किताबो के लिए मेरे पास वक्त नही है। और न मुझे इसका रज ही है।"

हो सकता है कि मीराबेन का यह कथन एक सिरे पर हो, लेकिन उन्होने जिस अमूल्य सत्य की ओर निर्देश किया है, उसकी दाद देनी ही होगी। केवल इतना ही नहीं, जीवन के सजीव ग्रन्थ को पढ़ने मे यदि छपी हुई पुस्तको के पटन मे लापरवाही हो जाय या किसी कारण से वे न पढ़ी जा सके तो कोई हर्ज नही, उससे कोई नुकसान नही होगा। मनुष्य, मनुग्य ही बना रहेगा। लेकिन इसके विपरीत जो लोग साक्षात जीवन से विमुख होकर केवल पुस्तको के अध्ययन मे ही उलझ जाते हैं, वे मनुष्य नही रह जाते। मनुष्य की मानवता से उनका सम्बन्ध नही रह पाता और वे निष्क्रिय दिमाग़ी कसरत के फेर में पडकर वास्तविक जीवन मे एकदम असफल हो जाते हैं। पाणिनि और पातजलि के ग्रन्थ पढ-पढ कर प्रकाण्ड पडित भले ही हो गये हो किन्तु लोक व्यवहार, समाज-सेवा और जीवन्त कार्यक्रम जीवन से वे बिलकुल कोरे रहते हैं।

पश्चिम के प्रभाव से जो शिक्षा पद्धति हमारे देश मे ईजाद की गयी है, उसके खिलाफ इतना जबरदस्त जो लोकमत है, उसका कारण भी तो यही है। ग्रेजुएट हो जाने के बाद हम शेक्सपियर और मिल्टन के काव्यो की तो दाद देने लगते हैं, और उनके बारे मे इतनी तफसीलवार जानकारी रखते हैं कि शेक्सपियर की पत्नी उससे उम्र मे कितनी बडी थी और मिल्टन किस सन् में अन्धा हुआ था। लेकिन हम यह नहीं जानते कि हमारे देश के बहुसख्यक लोग, जिन्होंने शेक्सपियर और मिल्टन तो नहीं पढा है, लेकिन जो ग़रीबी, ग़ुलामी और बुभुक्षा से पीड़ित हैं, उनके जीवन के साथ हम कैसे समास हो सकते हैं, और उनकी तकलीफ रफ़ा करने में कुछ मदद कर सकते हैं या नहीं। ग्रेट ब्रिटेन का इतिहास, ट्यूडर वंश की एक-एक बात तो हमें मुखाग्र होती है, लेकिन महाद्वीप जैसा यह पुरना

भारत देश मुट्ठी भर अंग्रेजो के इतने छोटे से द्वीप का गुलाम क्यों और कैसे बना, यह हम नहीं जानते। वाणिज्य और व्यवसाय, मैनचेस्टर और लकाशायर, मिल और जहाज़ इन सब की कहानी तो हमें पूरी तरह मालूम है लेकिन इज्जत के साथ दो शाम भोजन की प्राप्ति कर शान्ति की जिन्दगी बिताना हमारे लिए मुश्किल है। इस भयकर दुर्घटना का कारण यही है कि हमारी शिक्षा का जीवन से कोई ताल्लुक नहीं है। हमारे शासको ने जान-बूझकर यह नीति अख्तियार की थी • ताकि हमारे देश मे पढे-लिखे किन्तु निकम्मे, स्वाभिमानहीन, और परावलम्बी लोगो की जाति बनी रहे और देश का शोषण चलता रहे।

यही कारण था कि लोकमान्य तिलक और महात्मा गाधी इस जीवन द्रोही शिक्षा प्रणाली के इतने खिलाफ थे। लोकमान्य तिलक स्वयं एक उच्चकोटि के चिन्तक और शास्त्रज्ञ रहे हैं। उनके 'गीता रहस्य' और 'आर्कटिक होम आफ द वेदाज' अमर ग्रन्थ हैं, किन्तु वे भी कोरे पाण्डित्य के विरोधी रहे हैं। उनके बारे मे एक घटना बताते हैं कि काशी के एक विद्वान ने उनसे बड़े अभिमानपूर्वक जगन्नाथ पण्डित के महाकाव्य 'गगालहरी' का जिक्र करते हुए कहा कि जैसे-जैसे जगन्नाथ पण्डित एक-एक श्लोक कहते जाते वैसे-वैसे गगा जी का जल, उनकी वाणी और प्रतिभा के प्रसाद से एक-एक सीढ़ी ऊपर चढता जाता था। यह सुनकर लोकमान्य ने कहा, 'मुझे जगन्नाथ पण्डित के लिए अधिक आदर होता यदि उनके काव्य के प्रत्येक श्लोक से इस अभागे देश के प्रत्येक युवक हृदय में मातृभूमि के प्रति मर-मिटने की प्रेरणा उत्पन्न होती। लोकमान्य तिलक के जीवन-निष्ठ दृष्टिकोण का परिचय इस घटना से कैसा अच्छा मिलता है?

और पुस्तके हैं भी क्या? वे सब जीवन की प्रतिबिम्ब हैं, जीवन से

प्रेरणा पाती हैं और जीवन ही को समझने में सहायक होती हैं। वे साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। जो पुस्तकें जीवन से सम्बन्ध रखती हैं, उन्हे हम ऊँचे दर्जे की कला-कृति मानते हैं और जो जीवन विमुख होती हैं, उन्हे हम गलत और झूठा समझ कर फेंक देते हैं। यही कारण है जो हमे परीदेश की कहानी 'स्वप्न सुन्दरी' या शेक्सपियर की 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' जैसी रचनाएँ नहीं भातीं। हाँ, अपरिपक्व उम्र में एक समय ऐसा होता है जब इन कहानियों से दिलचस्पी रहती है, लेकिन वह समय बीत जाने के बाद हम इन पुस्तकों को असत्य और अयथार्थ मानकर फेंक देते है। वे जीवन की पुस्तिकाएँ नहीं हैं।

यह जीवन की किताब क्या है? कहाँ है, कैसे पढी जाती है? ऐसे सवाल उठते हैं। जीवन की पुस्तिका की परिभाषा तो क्या की जाय, उसका निर्देश अवश्य किया जा सकता है। सत्य क्या है या ईश्वर क्या है, इन प्रश्नो का निश्चित उत्तर देना कठिन है, जैसे गांधी जी कहते हैं—सत्य की या ईश्वर की झाँकी तो अवश्य देखी जा सकती है। वही बात जीवन के बारे में है। यहाँ जीवन का निर्देश व्यक्तिगत और संकुचित अर्थ में नहीं है, व्यापक अर्थ से है अर्थात् समाज-जीवन, विश्व-जीवन से है। ऐसे जीवन की किताब हर जगह खुली पडी है। जिधर नजर उठाकर देखो, उधर उसके शब्द और संकेत, उनके अर्थ और संदेश, नजर आयेंगे। काव्य की भाषा में कहे तो यह वह किताब है जिसका एक वर्क़ जमीन है और दूसरा आसमान है, जिसमें चाँद और सूरज नदी-पहाड और दरख़्त, इन्सान और परिन्दे हरूफ हैं और जिसकी बुनियाद सत्य है—शाश्वत, सनातन सत्य! इसे पढ़ने के लिए अ—आ—इ—ई या अलिफ़-बे—पे जानना जरूरी नहीं है। लेकिन हाँ, एक ख़ास दृष्टिकोण की जरूरत होती है, जिसका मूल केन्द्र, शक्तिदाता तथा प्रेरणात्मक बिन्दु हृदय है। इस कथन को जरा साफ करने की आवश्यकता है।

जीवन की किताब

यह जो विशाल विश्व है, यह प्रकृति, यह व्योम मडल, यह अथाह जलराशि, यह पृथ्वी, यह कोई अनियन्त्रित बेमतलब की चीजें नहीं हैं। हम बारीकी से देखें तो इनके पीछे एक क़ानून है, एक मक़सद है, अर्थ है। और अगर हम उस अर्थ को समझने का माद्दा रखें तो उससे बहुत लाभ भी उठा सकते हैं। इस क़ानून, इस आदि-शक्ति को, जो विश्व के इस महान व्यापार को चलाती है, आप कुछ भी नाम दें—ब्रह्म, ईश्वर या प्रकृति। लेकिन वह एक ताक़त है जो किसी ख़ास नियम के मुताबिक काम करती है। मानव यदि उस नियम को पढ़ सके, समझ सके, तो उसकी प्रगति के लिए ख़ूब गुंजाइश है। जो ऐसा करते हैं, वे जीवन में सफल माने जाते हैं, जो ऐसा नहीं कर पाते उनके लिए दुःख और निराशा का प्याला रखा हुआ है। भले ही वे अपनी किस्मत या ईश्वर या और किसी बाहरी शक्ति को दोष दें, लेकिन सच यही है कि उन्होंने जीवन की इस विशाल किताब को पढ़ना-समझना नहीं सीखा है। आमतौर पर यही बात सही है कि हमारी असफलताओं और तकलीफों के लिए ज़्यादातर हमीं जिम्मेदार हैं।

इसे जरा और बारीकी से देखें। पूर्णिमा की चाँदनी ही लीजिए। कवि या साहित्यिक के लिए तो वह अनुपम सौन्दर्य की खान है, लेकिन चोर को उससे सख़्त शिकायत है क्योंकि उसके कारण वह अपना पेशा नहीं चला सकता। और इस लड़ाई के जमाने में तो बमबाज उसका इसलिए स्वागत करते हैं कि वे दुश्मन के क्षेत्रों पर अचूक हमला कर सकें। कोई भी वस्तु मूल में अच्छी या बुरी नहीं है। वह तो हमारी दृष्टि ही है, जो हमें किसी विशिष्ट रूप में उसे दिखाती है।

जिनको पीलिया हो गया, उन्हें हर चीज पीली दीखती है। जिन्होंने धूप का हरा चश्मा लगाया है उन्हें आसमान और सफ़ेद कपड़े भी हरे

दीखते हैं। इसी तरह जो जीवन को निराशावादी नुक्तेनजर से देखते हैं, उन्हें हर जगह, हर दिशा मे दुःख और वेदना ही नजर आती है। वे हर सवाल का बुरा पहलू ही देखते हैं। दिन के प्रकाश की जगह उन्हे रात का अधकार ही दीखता है, गुलाब के फूल की बजाय उसका कॉटा ही उन्हें दीखता है, पर्वतमालाओं के अप्रतिम सौन्दर्य की जगह उन्हे पत्थर और झॉखर ही दीखते है। और फिर वे ही मुहर्रमी सूरत बनाकर कहने लगते हैं कि ससार असार है, जीवन महान दुखभोग है। किन्तु ऐसा होता तो इतनी विपत्ति और संकट के कारण आत्महत्या करना साधारण नियम हो जाता। लेकिन वास्तव मे बात ऐसी नही है। जीवित रहने की इच्छा बडी प्रबल होती है।

यदि हम गम्भीरता से सोचे तो हम पायेगे कि विश्व की गति ऊपर की ओर है, नीचे की ओर नही। जीवन प्रगतिशील है, प्रतिगामी नही। हजारों वर्षों का मानव इतिहास यही बतलाता है कि पाषाण युग से लेकर तो आज तक मानव ने प्रगति ही की है, बानर योनि से निकलकर वह आगे ही बढ़ा है। यही सत्य इस बात का द्योतक है कि जीवन की किताब का सदेश ऊर्ध्वगामी है, अधोगामी नही। इसलिए दुनिया मे आशावाद के लिए काफी सामग्री है, निराशावाद के लिए नही। हॉ जो सुख और आनन्द की ओर ऑखे मूंदकर अँधेरा और दुख देखने का निश्चय ही कर चुके हैं उन्हें कौन दिया बनायेगा? रस्सी को सॉप मानकर ही कोई प्राण छोड दे तो इसका क्या इलाज?

स्वाभाविक है, लेकिन उनका क्रन्दन इस दुर्घटना के परिमाण मे बहुत ज्यादा था, इसलिए लोग घबड़ाये हुए आये और पूछने लगे—"क्या हुआ भाई, क्यो रो रहे हो ?"

"मेरा पैजामा कुएँ मे गिर गया," खाँ साहब ने रोते-रोते कहा।

"हाँ, बुरा तो हुआ, लेकिन इसमे इतना रोने की क्या बात है ?" एक ने आश्चर्यचकित होकर कहा।

"अगर मै पैजामे मे होता तो मै भी गिर पड़ता न ?" खाँ साहब ने उसी तरह बिलखते हुए कहा।

अब आप इस मनोवृत्ति को क्या कहेंगे ? यह तो उसी बालक की वृत्ति जैसी हुई, जिसके हाथ से रास्ते मे कहीं एक इकन्नी खो गयी और वह आर्त-स्वर में रोने लगा। एक सज्जन को, जो उस रास्ते से गुजर रहे थे, उस पर रहम आ गया और उन्होने उससे रोने का कारण पूछा।

"मेरी इकन्नी खो गयी है, अम्मा ने मिठाई के लिए दी थी," उस बच्चे ने आँसू पोछते हुए कहा।

"ख़ैर कोई बात नहीं। उसे गुम जाने दो, यह लो दूसरी इकन्नी।"

बच्चे ने इकन्नी तो ले ली लेकिन अपना रोना उसी तरह जारी रखा। वे महाशय परेशान हो गये। फिर पूछा—"अरे बच्चे, अब क्यों रोते हो ?"

"वह इकन्नी नहीं गुमती तो मेरे पास दो इकन्नियाँ हो जातीं न।" और वह फिर रोने लगा।

ऐसी मनोवृत्ति के लोग अपने ही हाथ से अपने मार्ग पर दुख के काँटे बिछा देते हैं और दुनिया को दोष देते फिरते हैं या किस्मत के नाम पर रोते हैं।

अगर हम जीवन की किताब को सही तौर पर पढ़ना सीख सके तो हमें बहुत ही लाभदायक सबक मिल सकता है। कुदरत की हर छोटी-सी

चीज मे भी गहरा अर्थ रहता है। कवि वर्डसवर्थ तो यहाँ तक मानता था कि प्रकृति देवी के सम्पर्क से मनुष्य को नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति और मानसिक शान्ति की प्राप्ति हो सकती है, तथा उसकी चिन्ताएँ, तकलीफे आदि रफा हो सकती हें। इसी कल्पना को कई हिन्दी-उर्दू के कवियों ने भी सच माना है। कवि की प्रगल्भ दृष्टि, दिव्य सूक्ष्म और उदात्त कल्पना को छोड़ दे, तब भी हम जैसे साधारण व्यक्तियो को भी निसर्ग की प्रत्येक कृति में चमत्कार दीख सकता है। बशर्ते कि हम उसे उचित दृष्टि से देखे।

इन अनगिनती तारो से आभूषित व्योम-मण्डल को ही लीजिए। शान्त भाव से पड़े-पड़े उसकी ओर देखिए तो न जाने कितने विचार मन में उठने हैं। ये टिमटिमाते तारे यहाँ से न जाने कितनी दूर हैं, और दुनिया के परिमाण मे कई तो कितने बडे हैं। उनके हिसाब से यह पृथ्वी कितनी छोटी है। और उस पृथ्वी मे मानव एक अल्प-सा प्राणी, कितना छोटा, कितना नगण्य है! वह क्यो अहंकार करे, काहे का दभ करे? इतने बड़े विश्व के विधान मे वह कितनी-सी चीज है, जैसे अगाध सिन्धु में पानी का बुलबुला। कब उठा और कब फूटा, किसी को पता नहीं। हम नासमझी मे अपनी छोटी-सी दुनिया को, जरा से घर-बार और बाल-बच्चों को, नाहक अत्यन्त महत्व दे देते हैं, पर इतनी विशाल पार्श्वभूमि पर उसका क्या मूल्य है? क्यों न हम यह सोचकर विनम्र बने, व्यर्थ का अभिमान त्याग दे। या फिर, देखो, वे सुन्दर शुभ्र चमकते हुए तारे! कितनी शुद्ध और सौम्य, सात्विक प्रकाश की किरणे बिखेर रहे हैं? क्यो न हम अपने जीवन को भी उन्हीं जैसा शुद्ध, सरल और सात्विक बनायें?

दिवस और रात्रि के इस अनिर्बंध क्रम को ही ले लें या ऋतुओं के आगमन-प्रत्यागमन को ही ले ले। हम देखते हैं, रात्रि के अवसान के

बाद प्रभात काल का उदय होता ही है। क्यों न हम अपनी तकलीफों और मुसीबतों के दिनों में इस सन्देश से हिम्मत पा लें? समय का चक्र ऐसा होता है कि सब दिन एक समान नहीं होते। दुर्दिन हैं तो वे भी हमेशा के लिए तो रह ही नहीं सकते। कविवर शैली की वह प्रसिद्ध पंक्ति एक चरम सत्य का दिग्दर्शन करती है—If winter comes, can spring befar behind?

आम जैसे वृक्षों को ले लीजिए। ख़ुद बेचारे धूप में तपते हुए खड़े रहते हैं लेकिन थके-माँदे मुसाफिरों को अपनी शीतल छाया में स्नेहपूर्ण आश्रय देते हैं। कोई-कोई वृक्ष तो श्रम परिहार के लिए फल भी खिलाते हैं। क्या हम उनसे लोकसेवा का आदर्श नहीं ले सकते?

गुलाब को फूलों का बादशाह कहते हैं। संस्कृत और फारसी के कवियों ने इस सौन्दर्य सम्पन्न पुष्पराज की महिमा गायी है। उनमें काँटे लगे हैं, जो बतलाते हैं कि प्रत्येक अच्छी वस्तु प्राप्त करने के लिए ख़तरे के रास्ते से गुजरना जरूरी है। विश्व में भला और बुरा मिला-जुला है। समूचा सुख या समूचा दुःख दुनिया में नहीं होता। और दुःख के बिना सुख का आनन्द भी नहीं है। धूप में पैदल चलने के बाद ही वृक्ष की सघन छाया का मजा अनुभव किया जा सकता है। इसलिए यदि गुलाब का फूल तोड़ना है तो ख़बरदार! सम्हल के आना, नहीं तो काँटे लगेंगे। और फूल तोड़ने की कला मालूम है तो गुलाब का फूल आपके हाथ में बिना कष्ट के पड़ सकेगा। नहीं तो ख़ून की धारा बहने लगेगी।

क्या जीवन के बारे में यही बात सच नहीं है? आप यदि जीवन की कला जानते हैं तो आपको सुख, आनन्द और यश की प्राप्ति होगी; आपको सफलता प्राप्त होगी। यदि आप इस सार्वभौम कला से अनभिज्ञ हैं तो क़दम-क़दम पर आपको मुसीबतों के काँटे गड़ेंगे और अपयश, वेदना और निराशा के आघातों से आपके हृदय से ख़ून बहने लगेगा।

लेकिन निराश होने की ज़रूरत नहीं। यह कला सीखना मुश्किल नहीं है। न इसे सीखने के लिए आपको स्कूल या कालेजो मे दाख़िल होने की आवश्यकता है। रुपया भी न ख़र्च करना होगा। किताबे भी न पढनी होगी। हाँ, सिर्फ एक ही किताब पढने की जरूरत हैं और वह है जीवन की किताब! आँखे खुली रहे, कान सतर्क रहे, मन जागरूक रहे, हृदय मे सहानुभूति और सर्वप्रेम हो, बस, इतना जिसने कर लिया है वह इस सबसे बडी और महत्वपूर्ण पुस्तक को पढ सकता है।

और जिसने यह किताब पढ़ ली है उसे फिर और कुछ जानने को नही रहा है। वह सदासुखी है। ईसा, मुहम्मद, बुद्ध और गाधी ने सिर्फ इसी ग्रन्थ का तो अध्ययन किया है और उससे क्या पाया है सो दुनिया जानती है।

और यदि आप यह सोचते हैं कि इस असली पुस्तक को भूलकर लोहे की कीलो से छपी हुई किताबो मे ही सत्य पाया जा सकता है तो ईश्वर आपका भला करे।

तीसरी भूख

●

हमारे प्रान्त के एक नेता जेल से छूट रहे थे। पहले से ही उन्होंने बाहर ख़बर भिजवा दी कि उनके स्वागत की जोरदार तैयारियाँ की जायँ। शहर मे उनके एक ख़ास हिमायती थे, जो बतौर मुनीम के उनका काम करते थे। उन्होंने तमाम शहर भर में टेलीफ़ोन करके पत्रकारों, फूल-मालाओं, मोटरों और हितैषियों की जेल के फाटक पर एक ख़ासी भीड़ लगा दी। नेता जी को २००१) की थैली भी अर्पण की गयी। बड़ा जम कर स्वागत हुआ। नारे लगे, तसवीरे खिचीं, अख़बारों के कॉलम भी स्वागत में भरे गये, बड़ा आनन्द रहा। विशेष बात यह थी कि इस सबका आयोजन और पाई-पाई का ख़र्च स्वय नेता जी ने ही किया था।

मुझे कोई शिकायत नहीं है। केवल एक ही बात है। यह सब स्वय-स्फूर्ति से होता, लोगों के स्वाभाविक उत्साह और स्नेह के कारण होता, जैसा कि गांधी जी, पटेल आदि के बारे मे होता था या नेहरू जी के बारे में होता है तो कोई बात नहीं थी। पर जब इतने सबके लिए इतनी मेहनत-मशक्कत करनी पड़ती है और सब ख़ुद के ख़र्च से, तो वह लोकप्रियता

की नहीं, लोकविमुखता की निशानी है। भद्दपन और सस्कारहीनता का लक्षण है।

पर हमारे नेता जी को इसकी परवाह कहाँ? जो जानते हैं, वे तो जानते ही हैं कि ढोल के अन्दर कैसी पोल है, पर अधिकाश तो ऐसे ही होते हैं, जो अख़बारों में छपी हुई रिपोर्ट को पत्थर की लकीर मानकर उससे प्रभावित होते हैं, और सचमुच मानने लगते हैं कि यदि उत्तर-प्रदेश ने नेहरू को पैदा किया है, तो हमारे प्रदेश ने नेता जी को। यह बात अलग है कि नेहरू विश्व-ख्याति के व्यक्ति हो गये हैं और हमारे नेता जी वही के वही लेफ़्ट-राइट करते खड़े हैं। पर साहब, आयोजन और मेहनत मे कोई कमी नहीं है, यह तो मानना होगा।

लेकिन नेता जी बेचारे भी क्या करें? उनकी भी अपनी सफाई है— "भई, क्या करे? डेमोक्रेसी का, प्रजातन्त्र का जमाना है। जब तक अपना ढोल नहीं बजता तब तक प्रजा पर कोई असर ही नहीं पड़ता! केवल रुपया कमाने की बात होती तो वह गद्दी पर बैठ कर भी कमाया जा सकता था। पर जब जनता की वोटें लेने की बात है, तो अख़बार, फूलमालाएँ और फोटो तो चाहिए ही। बगैर पब्लिसिटी के काम ही नहीं चलता। हम भी तो लाचार हैं।"

शायद इसी लिए किसी शायर ने कहा है—

"खींचो न कमाने, न ही तलवार निकालो,
गर तोप मुकाबिल है तो अख़बार निकालो।"

अब वह ज़माना गया जब तोप और बन्दूकों से जग और फ़तह होती थी और राज बनते-बिगड़ते थे। अब तो वोटों के बल पर राज्य बनते और उलटते हैं और वोटें उसी को मिलती हैं, जिसका प्रचारतत्र सबसे बढ़िया हो। जहाँ प्रचार की बात आयी, वहां अख़बारों को कौन भूल सकता है?

यह पब्लिसिटी या प्रसिद्धि की भूख केवल नेतागिरी तक ही सीमित

नहीं है, यह तो मनुष्य स्वभाव के रोम-रोम में भरी हुई है और उसके जीवन के हर क्षेत्र में दिखायी पड़ती है। केवल मनुष्यों की बात ही क्यों, साक्षात् भगवान भी प्रसिद्धि और प्रशंसा के भूखे रहते हैं। नारद मुनि का तीनों लोकों में जो प्रभाव था, उसका कारण भी तो यही था कि वह जिसके पास जाते थे, उसका जयघोष किया करते थे। बस, देवतागण ख़ुश हो जाते और नारद जी को अपनी कूटनीति चलाने के लिए अवसर मिल जाता।

दूसरे एक और नेता जी की सच्ची कहानी सुनिए। वह जेल में बीमार पड़े तो उनके स्वयं के अख़बार में (हर एक बड़े नेता बनने वाले का एक न एक अख़बार रहता ही है) बड़े-बड़े अक्षरों में, उनके फोटो के नीचे छपा—

"स्वनामधन्य, देशकेसरी श्री अमुक जी, जो कारावास में दाद-रोग से पीड़ित हैं..."

अब भला बताइए—दाद-रोग से भी पीड़ा हो सकती है, जिससे शिकायत हो? उसे तो रोगों का राजा कहते हैं और वह अक्सर बड़े लोगों को ही होता है। एक मसखरे शायर ने जब यह मिसरा सुना कि "मरने-वालों से कोई लुत्फ़े शहादत पूछे", तो फ़ौरन उसने तुक से तुक मिला दी—"दाद वालों से कोई लुत्फ़े खुजाहट पूछे।"

ख़ैर, अख़बारों में जमकर प्रोपेगेण्डा हुआ, सरकार को तार पर तार जाने लगे कि नेता जी को इलाज के लिए छोड़ दिया जाय। सरकार की निगाह में वह ऐसे ख़तरनाक राजबंदी भी नहीं थे कि उन्हें छोड़ने में कोई धोखा हो, इसलिए अचानक जेल से छोड़ दिये गये। छूटते ही नेता जी ने घर पर तार दे दिया और साथ ही अपने शहर की कमेटी को भी, कि "मेडिकल ग्राउण्ड पर अकस्मात छोड़ दिया गया। कल सुबह की गाड़ी से पहुँच रहा हूँ। स्वागत का इंतजाम कीजिए।"

अब क्या था? स्वागत की तैयारियाँ होने लगीं। जब स्वयं नेता जी

का हुक्म हुआ तब कमेटीवाले बेचारे क्या करते ? यहाँ घर के लोगो ने सोचा, पता नहीं नेता जी की तबीयत का क्या हाल है ? जलूस निकाला तो सारे रास्ते धूल खानी पड़ेगी, सभा में भाषण देना होगा, जिससे फेफड़ों पर जोर पड़ेगा, तबीयत ज्यादा ख़राब हो जायगी। बेहतर हो एक स्टेशन पहले ही उतार कर उन्हें चुपचाप घर ले आया जाय।

नेता जी ने जब जकशन से पहले स्टेशन पर घर की मोटर देखी तो बोले, "मै यहाँ हरगिज नहीं उतरूँगा। बड़े स्टेशन पर स्वागत की तैयारियाँ हुई होगी। जनता को निराश होना पड़ेगा। नहीं, उनका दिल नहीं तोड़ सकता।"

इधर कमेटीवालो ने बड़े स्टेशन पर किसी तरह हजार-डेढ़ हजार की भीड़ तो इकट्ठी कर ही ली थी। जब लोगों को पता चला कि घर की मोटर पहले ही स्टेशन पर नेता जी को लेने के लिए गयी है तो खीज उठे। सो सारी भीड तितर-बितर हो गयी। जो निष्ठावान लोग थे, वे पक्की सडक से उस छोटे स्टेशन की ओर बढ़ने लगे, ताकि कम से कम रास्ते मे ही नेता जी की मोटर पकड ले।

नतीजा यह हुआ कि जब नेता जी की गाडी बड़े स्टेशन पर पहुँची तो सिवा कुली और खोमचेवालों की भीड़ के और कोई नही दिखायी दिया। गुस्से मे आकर एक कुली से बोले—

"क्यों जी, जनता कहाँ है ?"

"जनता ? कैसी जनता ?"

"अरे, जनता नहीं जानता ? जनता यानी लोग-बाग, भीड़।"

"हाँ हाँ, मजमा ? सुनत रहें कि कोई नेता आय रहा तो मजमा आवा हता। फिर सुनत रहें कि वह मजमा चला गया, काहे से कि वह नेता फर्जी निकला।"

नेता जी के लिए गुस्से के मारे बोलना मुश्किल हो गया। ऐसा लगा

जैसे जले पर नमक छिड़क रहा हो। चुपचाप सामान उतरवा कर ताँगे में सवार हो गये क्योंकि उनकी मोटर अब तक पहुँच नहीं पायी थी।

इसी तरह अपने भाषण की रिपोर्ट स्वय लिखकर अखबारों को भेजने वाले, अपना फोटो खिचवाकर पैसा देकर छपवाने वाले, अपने ही हाथों अपने नाम के आगे विशेषणों की रेलगाड़ी जोडनेवाले सार्वजनिक कार्य-कर्त्ता आपको जिले-जिले मे मिलेंगे। शुरू-शुरू में तो यह चल जाता था, पर अब लोगों के मन मे इस ढकोसले के प्रति अरुचि पैदा होनी जा रही है।

अभी तक तो शास्त्रज्ञों ने मानव की दो भूखों का ही जिक्र किया है; एक है आत्मसरक्षण की और दूसरी वशनिर्माण की, जिसका सम्बन्ध यौनक्षुधा से है। पर अब इसमें हमें तीसरी भूख का भी समावेश करना होगा, जो है प्रसिद्धि की भूख! और जो इन दोनों से किसी क़दर कम नहीं।

इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मनुष्य के मूल स्वभाव से ही है। मानव हमेशा आत्म-प्रकटीकरण चाहता है, अपने आपको प्रकाश में लाना चाहता है, और लोगों के सामने अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करना चाहता है। यह क्षुधा भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न रूप लेती है। केवल नेताओं में ही नहीं, सर्वसाधारण व्यक्तियों में भी यह क्षुधा विद्यमान है और प्रकट होती रहती है। उसका स्वरूप भले ही भिन्न हो।

जो स्त्री दर्पण के सामने आते ही अपना मुँह न देखे वह नोबल पुरस्कार पाने योग्य है। और स्त्रियों की ही बात क्यों की जाय, ऐसा कौन-सा पुरुष है, जो दर्पण को देख कर आँखे मिचकाने और मुँह मटकाने के बिना चैन पाता है? कहीं आपका ग्रूप फोटो निकला हो तो उसमें सबसे पहले आप देखेंगे अपना फोटो। वह अच्छा निकला, तो सब अच्छा है, वरना तमाम फोटो और उसमे बैठे बीसों व्यक्ति बेकार हैं।

लेकिन सब लोगों को एक ही ग्रूप में शामिल करने में कभी-कभी बड़ी अड़चन पैदा हो जाती है। एक बार ऐसी ही मजेदार घटना हो गयी।

एक अंग्रेज कमिश्नर की एक छोटी सी तहसील में, जहाँ वह दौरे के लिए आये थे, बडी शानदार पार्टी दी गयी। बात उस जमाने की है, जब अंग्रेजों का राज्य था। रायसाहबों, खानबहादुरो और धनिक सेठो ने जमकर चदा इकट्ठा किया और शानशौकत की हवेली खडी कर दी। राजधानी से, जो करीब पचास मील दूर थी, मिठाइयाँ आयीं, हार गुलदस्ते आये, बैंड आया और साथ ही फोटोग्राफर भी आया।

पार्टी के लिए जिन्होने चदा दिया था, उनकी तादाद पहुँच गयी सौ-सवा सौ तक। उन सबको कमिश्नर साहब के साथ एक फोटो मे शामिल करना बडा मुश्किल काम था। हजार कोशिश करने के बाद भी पहली कतार के दो-चार व्यक्ति फोकस के भीतर न आ सके, जिनमें एक रायसाहब भी थे।

इधर कमिश्नर साहब की मोटर रवाना होने के लिए तैयार थी। फोटोग्राफर ने जब 'रेडी' कहा तो वह रायसाहब इस कदर अटेनशन बैठ गये जैसे अकेले उन्हीं का फोटो खिन्च रहा हो। पर जब तसवीर बनकर आयी तो देखा कि वह उसमे से नदारद हैं, क्योकि वह फोकस के बाहर थे। झल्लाकर फोटोग्राफर से बोले—

"क्यों जी, हमारा फोटो इसमे नही दिखायी देता?"

"रायसाहब, भला बताइए," उसने फौरन जवाब दिया, "मिनटो में तो फोटो खिंचता है—उतने मे वह किस-किस का ले! आदमी ज़्यादा हो जाने से कभी-कभी ऐसा हो ही जाता है।"

यह प्रसिद्धि पाने की भूख बहुत दूर तक चली जाती है। एक सार्वजनिक कार्यकर्त्ता की पत्नी बीमार थी। उनका किसी दैनिक अख़बार से सम्बन्ध था। रोज़ाना उसमें उनकी तबीयत का हाल छपता था। जो उनसे मिलने आते, उनका नाम भी अख़बार में छप जाता था। नतीजा यह

हुआ कि तीमारदारों की सख्या बढ़ने लगी। वे रोगी को देखने आते या अख़बारों में अपना नाम छपवाने, यह कहना कठिन है।

फिर बाद में उस बेचारी महिला की मृत्यु हो गयी। शवयात्रा में शामिल होनेवालों की ख़ासी भीड़ हो गयी। उनके नाम अख़बार में छपे, फिर जिन्होंने समवेदना के पत्र लिखे उनके नाम भी क्रमशः उस समाचार-पत्र में छपते जाते थे। कुल मिलाकर यह बीमारी का मामला सार्वजनिक रीति से महीने भर तक चलता रहा।

ज़रा अजीब-सा मालूम होता है। किसी के घर में मृत्यु हो जाय, यह सचमुच दुख की बात है। पर उस दैवदुर्विपाक को भी प्रसिद्धि का साधन बनाकर अपनी क्षुधा शमन की जाय, इससे बढ़कर विडम्बना क्या हो सकती है?

इस प्रकार एक और बड़े कार्यकर्त्ता का पत्र मुझे मिला, जिसका आशय इस प्रकार था—

"आपको यह जानकर दुख होगा कि गत रात्रि को डेढ़ बजे मेरे ताऊ जी का स्वर्गवास हो गया। दुख होना तो स्वाभाविक है, पर जो हुआ है, वह विधिगति के कारण ही हुआ है। इसलिए हमें तो विवेक से ही काम लेना चाहिए। आप इस अवसर के निमित्त भेंट करने आयेंगे। पर आपसे प्रार्थना है कि इनमें आप अपना समय व्यर्थ न गवाएँ; वही समय देश-सेवा में लगा दें।"

अब इसे आप क्या कहेंगे? सिवा भद्दे, असंस्कृत और अशिष्ट प्रदर्शन के और कुछ नहीं। मैं उस पत्र के लेखक को तो जानता था, पर उनके ताऊ जी का नाम भी कभी नहीं सुना था। वह मरे तो बुरा तो हुआ होगा, पर उससे मेरा क्या सम्बन्ध? और क्यों मुझे देश-सेवा में समय लगाने की यह नसीहत? शुरू से आख़ीर तक हर चीज भद्दी और बद-

सूरत। किसी-न-किसी रूप से लोगों के सामने प्रकाश में आने की और उनकी सहानुभूति पाने की मनहूस हविस के सिवा और कुछ नहीं।

इन्हें यह भी पता नहीं कि यथार्थ में बहादुर और आत्मसम्मान रखने वाला व्यक्ति अपना दुख चुपचाप बरदाश्त करके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकालेगा। घनघोर युद्ध का सचालन करते समय अपनी पत्नी की मृत्य का तार पढ कर चुपचाप जेब में रखने वाले और उसी तरह काम करते हुए अपनी फौज को विजय का सेहरा चढाने वाले कर्त्तव्यनिष्ठ कमाण्डर की कहानी भी हम जानते हैं। उसने सोचा कि यहाँ तो पत्नी के रूप में एक ही व्यक्ति की मृत्य हुई है, पर यदि अपना सतुलन खो कर मैंने ग़लत हुक्म दिया तो पूरी रेजीमेंट की रेजीमेंट भुन जायगी। लेकिन इतनी कर्त्तव्य भावना आजकल कहाँ?

आजकल तो हाल यह है कि 'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्।' नेकनामी हो या बदनामी—नाम तो है ही। कुछ लोग तो चुनाव में यह जानते हुए भी खड़े हो जाते हैं कि उनकी जमानत जब्त होने वाली है। पर उसमें चुनाव के नतीजे तक चर्चा तो होती रहती है। उस पर तुर्रा यह कि 'भई, मैं खुद तो खड़ा होना नहीं चाहता था पर क्या करूँ, जनता जो चाहती है।' क्या करें बेचारे? जनता का नाम लेने से सब ख़ून माफ़ हो जाते हैं! चुनाव में खड़े हैं तो जनता के नाम पर। कालाबाज़ार करते हैं तो जनता के नाम पर। शराब का ठेका है सो भी जनता के नाम पर। बेचारी जनता को पता भी नहीं कि उसके नाम पर कितना पुण्य कार्य हो रहा है।

दूसरों से किताब लिखवा कर अपने नाम छपवाना, दूसरों से भाषण लिखवा कर माइक्रोफोन के सामने खड़ा हो उसे ठीक से पढ भी न सकना, अपने ख़र्च से फोटो छपवाना, मानपत्र दिलवाना यह सब आज के समाज

मे बहुत बड़े पैमाने पर हो रहा है। इसमें अशिष्टता है, मिथ्याचार है, इसका भी इन यारों को ख़याल नहीं। तौर-तरीका कुछ भी हो, नाम चाहिए, प्रसिद्धि चाहिए। पीठ पीछे गालियाँ दो तो हर्ज नहीं, पर सामने दाद दो।

पढे-लिखे लोगो का जब यह हाल है तो उस बेचारे चमार से क्या कहा जाय जो राज दरबार मे लौटने के बाद अपनी औरत से शान से बोला—

"आज राजा साहब ने केवल दो आदमियो से बात की। एक तो प्रधान मत्री से और एक मुझसे।"

"अच्छा?" श्रीमती चमार की बाछे खिल गयी। "क्या बोले राजा साहब?"

"प्रधानमत्री से तो शायद उन्होंने राजकाज का हाल पूछा। और मुझ से बोले, "क्यो रे, चमरवा, रास्ते मे क्यो खड़ा है!"

ऐसी प्रसिद्धि से तो हाथ जोड़े। इससे तो बेहतर है अज्ञातवास मे रहना। जो ठोस काम करते हैं या जिनमे यथार्थ मे कोई गुण या योग्यता है, वे तो अपने आप ही चमक उठते हैं।

गांधी जी तो हमेशा प्रचार और प्रकाशन से दूर भागते थे, यहाँ तक कि जब एक बार वर्धा मे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में भाषण दे रहे थे तो अपने सामने कैमरे को देखते ही अपना चेहरा अपनी शाल से पूरा ढक लिया, जिससे सारा सभा भवन हास्य-विनोद से गूँज उठा। उनका तो कहना है कि गुलाब में यदि स्वाभाविक गुण है तो वह कहीं भी महकेगा ही। कागज़ के फूलो को गुलदस्ते में कितना भी सजाकर रखो, तब भी वे निर्गन्ध हैं, निर्जीव हैं।

लेकिन मजा यह है कि गाधी जी प्रसिद्धि से जितना दूर भागते थे, उतनी ही वह उनके पीछे आती थी। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

"छाया अरु सम्मान गति, एकहि सी दरसात ।
अनचाहे पीछे लगत, चाहे दूर परात ।"

अर्थात् प्रसिद्धि के पीछे लगो तो वह छाया की तरह आप से आगे-आगे भागती जायगी । लेकिन उससे मुँह फेर लो तो वह आपके पीछे-पीछे चलने लगेगी ।

इसके लिए आवश्यकता है आत्मविश्वास की । जिसे अपनी कला, गुण या योग्यता पर भरोसा है, वह आज नही, कल प्रकाश मे आयेगा ही । बगैर योग्यता या सम्पन्नता के प्रसिद्धि पाने की हविस करना बालू की नींव पर मकान बनाने जैसा है । उसमे नाम का बोलबाला जरूर जल्दी होता है, पर मुँह काला होने मे भी देर नहीं लगती । हाँ, योग्यता के बाद उचित प्रमाण मे प्रसिद्धि पाने की इच्छा रखना अनुचित बात नही है, लेकिन उसके बिना तो 'नाम बड़े दर्शन छोटे' की कहावत ही चरितार्थ होती है ।

ऐसे लोगो का हाल तो साहित्य सम्मेलन के एक धनिक स्वागताध्यक्ष सेठ जी की तरह ही है, जिन्होने लक्ष्मी की कृपा तो पायी थी, पर सरस्वती के प्रसाद से बेचारे पूर्णतः वचित रहे । उनका भाषण लिखा मंत्री जी ने, जिन्हे वह वकील साहब कहते थे । जब भाषण मे प्रारम्भ मे ही 'साहित्यानुरागी' शब्द आया तो वह 'सा...सा...हि' के आगे न बढ़ सके । जब तीसरे प्रयत्न में भी इससे ज्यादा नतीजा न निकला तो वह मच पर से ही लाउड स्पीकर पर बोल उठे ।

"अरे, वकील साहब कहाँ हैं ? घणी मुश्किल स्पीच लिख दी है ।"

सम्मेलन के सभापति भी विनोदी थे । बोले, "आप काहे को तकलीफ करते हैं, सेठ जी । उन्होने लिखी है तो उन्ही को पढ़ने दीजिए ।"

अन्नदाता

●

एक आस्ट्रियाई नर्तकी के बारे में एक बात पढ़ी थी। वह बहुत लोक-प्रिय थी और उसके नृत्य-संगीतों के कार्यक्रम इतने सफल होते कि टिकट-घर में रुपयों के ढेर लग जाते। यूरोप, इंगलैण्ड, अमरीका—जहाँ-जहाँ भी उसने प्रवास किया, समाचार-पत्रों में उसकी प्रशंसा की झड़ियाँ लग जातीं तथा उसके कार्यक्रमों को देखने के लिए बड़े-बड़े राजा-महाराजा, सरदार, मंत्रिगण, करोड़पति, लेखक, छायाकार, श्रमजीवी मजदूर आते। आते क्या, टूट पड़ते। उसकी अपूर्व सफलता देखकर सब लोग दंग रह जाते। एक लेखक ने, जो उसकी जीवनी लिख रहा था, उससे उसकी इस अलौकिक सफलता का रहस्य पूछा। उसने बताया—"जब रंगमंच पर जाने का क्षण आता है तब उसके पहले मैं अपने निजी कमरे में घुटने टेककर भगवान से विनय पूर्वक प्रार्थना करती हूँ कि जिन दर्शकों के सामने मैं जाने वाली हूँ वे मेरे अन्नदाता हैं। उनको मैं पूरा-पूरा आनन्द दे सकूँ, उनका मनोरंजन कर सकूँ, ऐसी मुझे शक्ति दो,

जिससे उनमे से किसी को भी यह न लगे कि उनके पैसे का मूल्य नही मिला। उनका परम संतोष हो, यही मेरा ध्येय रहता है।"

इस नर्तकी ने यथार्थ मे एक बहुत बडा सत्य जान लिया, यह मानना होगा। मानो वह सफलता की कुजी ही पा गयी हो। यश, लाभ और कीर्ति के दरवाजे उसके लिए सदा ही खुले रहे।

जो बात वह नर्तकी अपने जीवन मे कर सकी, वह हम लोगो मे से प्रत्येक कर सकता है। ऐसा कौन है जो जीवन में सफलता नहीं चाहता, प्रगति नही चाहता! कल का दिन आज से अधिक अच्छा हो, उसमे अधिक सुख मिले, धन मिले, यश मिले, यह इच्छा हर एक के मन मे रहती है। पर केवल चाहने से कुछ नही मिलता। उसके लिए कुछ करना पड़ता है, उचित ढंग से करना पडता है, उचित मनोवृत्ति रखनी होती है। यह जो करता है उसके स्वागत के लिए यश हमेशा जयमाल लिये खडा रहता है।

उस नर्तकी के जीवन से यही सत्य निकलता है कि जिसके कारण हमारी जीविका चलती है, जो हमारा अन्नदाता है, उसके प्रति हम वफादार रहें, उसकी चाकरी हम पूरी-पूरी बजाये। यदि यह भाव हमारे हृदय में सतत् जाग्रत है तो हमारी सफलता ठीक उसी तरह निश्चित है जिस तरह रात के बाद सूरज का निकलना।

गाधी जी ने अपने ग्राम-सेवकों को यही दीक्षा दी थी। जब उन्होने ग्रामोद्धार के लिए स्वयं सेवकों की ऐसी सेना तैयार की जो चौबीसों घटे उस कार्य में रत रहे, तब एक कार्यकर्ता ने पूछा—"ग्राम-सेवक के खाने का क्या होगा?"

गाधी जी ने तुरन्त जवाब दिया—"सेवक यदि उस ग्राम के दैनिक जीवन और सुख-दुख से पूरी तरह समरस हो जाता है, हमेशा उसी के

कल्याण की बात सोचने लगता है तो वह ग्राम उसे कभी भूखा नहीं मरने देगा। सेवक के दिल में यह अटूट श्रद्धा होनी चाहिए।"

गांधी जी ने जो बात कही वह बहुत महत्व की है। हमारे देश में सदैव ऐसी परम्परा रही है कि जो अभ्यागत हैं, साधु हैं, प्रवासी हैं, उन्हे भोजन दिया जाय। कुछ न करते हुए भी जहा भोजन देने की व्यवस्था है वहाँ काम करने वालो को, अपनी सेवा और कल्याण की बात करने वालो को कभी भूखा मरना पडे, यह असम्भव है।

हममे से प्रत्येक का, वह राजा हो या रक, कोई न कोई अन्नदाता तो होता ही है। उसको हम ईश्वर मान ले, देश कहे या समाज, पर हमारा कोई-न-कोई अन्नदाता है ही। जो हमे अन्न देता है, जो हमारे शरीर यन्त्र को चलाये रखता है, जो हमारे और हमारी मृत्यु के बीच वरदान बनकर हमारे जीवन को टिकाता है, उसके प्रति कृतज्ञ-भाव न होना घोर कृतघ्नता है, मानवता का द्रोह है। अच्छे भाग्य या अनुकूल परिस्थिति के कारण हम इस सत्य को भले ही न देख सके या उसकी आँच से क्षणिक रूप मे बच जाये, पर एक-न-एक दिन उसकी भयकर ठोकर खाये बिना हम नही रह सकते। फिर पछताने से भी कुछ हाथ नहीं आयेगा।

साधारणत: दैनिक जीवन मे हमारा अन्नदाता वही है जिसके कारण हमारी उपजीविका चलती है। हम सरकारी नौकर हो, व्यापारी हो या सार्वजनिक क्षेत्र मे काम करने वाले विधान सभा के सदस्य हो, हमारे सब के कोई-न-कोई अन्नदाता हैं ही, जिनकी सेवा करने से ही हमारा कार्य चलता है। व्यापारी या दूकानदार के अन्नदाता हैं—उसके ग्राहक। उसका कर्तव्य है कि वह देखे कि ग्राहक पूरी तरह सन्तुष्ट जाता है, जो पैसे उसने दिये हैं, उसका पूरा-पूरा और अच्छा माल उसके पल्ले पड़ा

है, और उसने किसी भी कारण ग्राहक के अज्ञान और गरजमन्दी से नाजायज फायदा नहीं उठाया है।

सरकारी कर्मचारियों को भी यह समझ लेना है कि समाज के अन्य अंगों से वे कितने भाग्यशाली हैं। औरों को तो आर्थिक जीवन में उतार-चढाव देखने पड़ते हैं, पर इनकी तनख़्वाह एक तारीख को पक्की है। तनख्वाह लेने से किसी को एतराज नहीं है, पर हर एक कर्मचारी को, चाहे वह छोटा-सा क्लर्क हो या बडा अधिकारी, अपनी छाती पर हाथ रखकर इक़रार करना है—आया वह अपनी तनख़्वाह के बदले पूरी-पूरी सेवा बजाता है या नहीं। आज देश स्वतन्त्र हो गया है और शासन सर्वथा हमारा है, यानी हमारी जनता का, अर्थात जनता ही हमारी अन्नदाता है और उसकी सेवा करने की ही हम तनख़्वाह पाते हैं। हम अपना-अपना काम ठीक करें तो हमारी मालकिन, जो जनता है, उसे सुख मिलेगा, उसकी उन्नति और समृद्धि होगी और उसके साथ-ही-साथ देश भी आगे बढेगा और हम भी आगे बढेंगे। इसलिए हमें देखना है कि हम छः-सात घंटे जो कि हमारे लिए नियुक्त है, बराबर ईमानदारी से काम करते हैं या नहीं। क्या हम चाय-पानी, डिनर-सिनेमा या गप-शप में ही सारी शक्ति ख़र्च कर देते हैं या उसे अपने काम में लगाते हैं। दफ़्तर आते ही लंच की या दफ़्तर बन्द होने की बात सोचने लगते हैं या सामने जो कागज के ढेर पड़े होते हैं उनकी फ़िक्र करते हैं? हम ग़लत भत्ता तो नहीं बनाते हैं, शिकार और मौज-शौक़ के लिए तो दौरा नहीं करते? हम यह तो नहीं भूलते कि यह शासन हमारा है और इसकी पाई-पाई बचाना हमारा कर्तव्य है?

इसी तरह हमारी भिन्न-भिन्न विधान सभाओं और समितियों के

सदस्यो के बारे मे भी हमें यही देखना है। विधान सभा मे जाने की हविश तो सब के मन मे रहती है, पर हम यह भूल जाते हैं कि वहाँ जाने के बाद हम पर जिम्मेदारियाँ भी अधिक आ जाती हैं। हमें वहाँ जो मासिक वृत्ति मिलती है या भिन्न-भिन्न भत्ते मिलते हैं उसका अर्थ यही है कि अब हम सोलह-आने जनता के नौकर हो गये, क्योंकि उसी के कोष में से हमें खाना मिलता है। पर इन सदस्यों में से कितने हैं जो अपनी सदस्यता को इस दृष्टि से देखते हैं? कितने अपने विषयों का अध्ययन करते हैं, कितने-शासन के प्रश्नो को समझ कर उनके हल निकालने की कोशिश करते हैं, अपने निर्वाचन-क्षेत्र का सतत् दौरा करते हैं? एक समय था जबकि स्वतन्त्रता-युद्ध के ज़माने में इन्हीं लोगो ने घर की रोटी खाकर जनता की सेवा की थी, जेलखाने गये. हर तरह से बरबाद हो गये, पर आज इन्ही में घोर परिवर्तन हुआ-सा दीखता है। अधिकार तो हम खूब माँगते हैं, पर उसके साथ-ही-साथ कर्तव्य भी पालन करना पडता है, यह हम भूल जाते हैं।

हम पत्रकारो के सामने भी यही दृष्टिकोण होना चाहिए। सफल समाचार-पत्रों पर सभी अपना रोब गाँठने की कोशिश करते हैं। जिन्होंने पूँजी लगायी है, वे अपना अधिकार जनाते हैं तो सरकार में बैठे हुए राजनीतिज्ञ या अन्य दल अलग शान बघारते हैं। पूँजीपति भी इस क्षेत्र में अपने हाथ-पैर फैला रहे हैं तो फिर पत्रकार किसकी सुने?

जिस पत्र से मेरा सम्बन्ध है उसमें इस तरह के गम्भीर संघर्ष के अवसर आये तो हमने कार्यालय के कर्मचारियो की एक सभा में यही सलाह दी कि हमारा अन्नदाता और मालिक वह पाठक है जो रोज छः पैसे देकर हमारा अख़बार ख़रीदता है। उसके प्रति हम वफादार रहें, उसकी हम निष्ठा और निडरता से सेवा करें तो हमारा कोई बाल बाँका नहीं कर

सकता। उस पाठक को सत्तात्मक राजनीति या सत्ता के प्रदर्शन मे कोई दिलचस्पी नहीं है। वह तो चाहता है एक निष्पक्ष, निर्भीक अखबार, जो सत्य को न छिपाये और सारी जनता के समग्र कल्याण के हित मे सचालित हो, किसी दल-विशेष के हित मे नही। उसे हम अपनी लगन, निष्ठा, और सेवा से सन्तोष दे सके तो वह हमे कभी भूखो नही मरने देगा।

इसी प्रकार की श्रद्धा जीवन को बल देती है। प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्म ईमानदारी से करे, निष्ठा से करे तो उसके बाकी के सवाल आप-ही-आप हल हो जायँगे। कर्म को यज्ञ भी कहा है। वही हमारा धर्म भी है। हमारे जिम्मे समाज का कोई भी कार्य आ पडा हो, हम उसे ठीक-ठीक करें जैसे हमारा निज का कार्य है। कबीर जुलाहे का काम करते थे तो सूत के तारो मे भक्ति का सगीत भर देते थे। कपडा बुनते तो इस प्रकार जैसे अपनी प्रियतमा के लिए बुनते हो। इतने मे ही उन्हे भगवान मिल गये। गाधी जी के चरखे का पहले लोगो ने मजाक उडाया कि सूत से कही स्वर्ग मिलता है, पर उनका चरखा चला तो ऐसा कि सूत से स्वराज्य ही मिल गया। अर्थात् गाधी जी ने उसे अपने कार्यक्रम मे इतना खपा दिया. अपने सारे प्राण ही उसमे उँडेल दिये कि नतीजा अच्छा निकले बग़ैर कैसे रहता ?

पर आजकल हमारी यही निष्ठा कमजोर होती जा रही है। कामचोरी की और किसी तरह वक्त निकाल देने की आदत पड गयी है। कुछ थोडा-सा काम किया, कुछ बहानेबाजी कर दी और बाकी की टालमटूल। बस इतने मे तो दिन निकल जाता है, पर इसी तरह 'पल-पल, छिन-छिन गयी उमरिया बीत' कहने की नौबत आ जाती है और जब जीवन का लेखा-जोखा होता है तब हाथ मे क्या आता है—एक बडा शून्य! और फिर पछतावे में तो प्राण निकलना भी कठिन हो जाता है।

इसलिए समय रहते ही चेत जाने में बुद्धिमानी है। मनुष्य-देह बड़ी

मुश्किल से मिलती है। उसे टिकाना, उसके अनुरूप काम करना, इसी में हमारा अभीष्ट है। उसे वरदान मानना चाहिए। हमारा कोई भी काम हो—हम जूते बनाते हों या लेख लिखते हों—सब कामो की प्रतिष्ठा बराबरी की है। जूते बनाते-बनाते ही तो बाटा जगत-प्रसिद्ध आदमी बन गया। हम लिखे तो अपना ही ख़याल न करे कि हमें क्या पसन्द आता है। अपने पाठकों का हम ध्यान न रख कर अपना ही पाण्डित्य बघारते रहें तो उसे सुनने की किसे फ़ुरसत है। हम लिखते हैं तो अपने पाठक के कल्याण और मागल्य का हमें स्मरण होना चाहिए। क्या हम उसके जीवन में, थोड़ा-सा ही क्यो न हो, आनन्द डाल सकते हैं? क्या उसके कल्याण की भावना को, अल्प-सा क्यों न हो, जगा सकते हैं? क्या उसकी चिन्ता और दुख के भार को रच-मात्र ही क्यो न हो, हलका कर सकते हैं? उसके हृदय मे कुछ प्रेम, कुछ सहानुभूति, कुछ आर्द्रता, कुछ सद्भावना उत्पन्न कर सकते हैं?

जिस पत्तल मे खाता है, उसी मे छेद करने वाले आदमी को कृतघ्न या नमकहराम कहते हैं। ये शब्द हैं ज़रा कठोर, पर क्या वे हम लोगो मे से उन लोगो पर नही लागू होते जो अन्न देने वाले की पूरी-पूरी सेवा नहीं करते। और कहीं जो अन्न देता है वह अन्न देना बन्द कर दे तो क्या गत हो? अन्न का बन्द होना यानी मृत्यु! इतनी गम्भीर यह बात है, पर हम उसे कितनी हलकी दृष्टि से देखते हैं! मान लीजिए कि जनता इतनी सशक्त और जाग्रत हो जाय कि वह उसका काम ठीक-ठीक न करने वाले विधान सभा के सदस्य को धक्के मार कर निकाल दे यानी दुबारा न चुने? आलसी और कामचोर कर्मचारी को सरकार नौकरी से निकाल दे? निकम्मे और लक्ष्यहीन पूँजीपति का धन उसे छोड़ दे! लापरवाह और नालायक मजदूर का काम बन्द हो जाय, पाठक भद्दे और कुरुचिपूर्ण लेखक की किताब लेना बन्द कर दे, मेहनत और अभ्यास न

करने वाले गवैये की महफिल खाली होने लगे, तब क्या होगा? पेट में चूहे डण्ड पेलने लगेंगे और दुनिया में कोई जगह नही मिलेगी। फिर ऐसी नमकहरामी क्यो?

हमारे शास्त्रों में तो 'अन्न ब्रह्मरसो विष्णु:' कहा है। अन्न खाने के पहले अग्नि को अर्पण करना पड़ता है—गाय को खिलाया कि नही? घर के बीमारों ने तो खा लिया? बच्चे तो भूखे नही हैं? वृद्धों का भोजन तो हो गया? सब अतिथि आ गये? दरवाजे पर तो कोई खड़ा नहीं है? और जब इन सब प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर मिल जाता है तब वह स्वय भोजन करने बैठता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि इतना सब कौटुम्बिक एव सामाजिक ऋण चुकाने के बाद ही अपने भोजन पर अधिकार होता है। इस सब के बाद भी भोजन देने के पश्चात् आशीर्वाद देना होता है—'अन्नदाता, भोक्ता तथा पाक-कर्ता सब सुखी हो।'

हम अपनी ही चिन्ता करते रहें तो कोई हमारी चिन्ता करने वाला नहीं है। यदि हम औरों की चिन्ता करे तभी वे भी हमारी चिन्ता करेंगे। जो हमें जीविका देता है, उसका काम हमने निष्ठा और वफादारी से किया तो हमारी जीविका चलती रहेगी। पर काम तो दमडी का करें और उम्मीद करे कि पहली तारीख़ को अशरफी मिले तो हम जैसा हाथी पालने वाला कौन महामूर्ख होगा। रोज-रोज मुर्गी की हिफाजत और परवरिश करे तो वह हमें सोने का अंडा देती रहेगी। पर रोज की मेहनत के आलस से या अति-लोभ से हम सभी अण्डे निकालने के लिए उसका पेट चीरेंगे तो कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। इसलिए हमें जोर देना है अपने दैनिक-कार्य और उत्तरदायित्व पर।

हमारा इतना बड़ा देश है, इतना बड़ा शासन-तन्त्र है और इतना बड़ा मानव-समाज! उसमें मैं अकेला ही निकम्मा निकला तो ऐसा क्या

बिगड़ेगा, यह सोचना गलत है। ऐसा सभी सोचने लगें तो सब कुछ चौपट हो जायगा। एक राजा ने एक बार हुक्म दिया कि राजमहल के सामने के हौद में प्रत्येक नागरिक रात में आकर एक लोटा दूध डाल दे। सुबह उठकर देखा तो वह पानी से लबालब भरा है, दूध की एक भी बूँद नहीं, क्योंकि हरएक ने सोचा कि सब तो दूध डालने ही वाले हैं, मैं अकेला ही यदि एक लोटा पानी डाल दूँ तो इतने बड़े हौद में क्या पता चलेगा? पर एक ने सोचा तो सब ने सोचा और वैसा ही हो गया।

इसलिए जो कुछ सोचना है वह हमें अपने ही बारे में सोचना है—दूसरा क्या करता है, इसका तो खयाल ही न करें। हम क्या हैं, यही देखें तो सब कुछ ठीक हो जायगा। इस तरह हम अपना भी फायदा करेंगे, अपना कर्तव्य-कर्म करते रहेंगे और साथ-ही-साथ समाज की और देश की भी प्रगति करेंगे। अपना कर्म करते रहने से हमारा जीवन बराबर चलता रहेगा, अन्न-जल मिलता रहेगा, मानव देह-धर्म भी पूरा होता रहेगा। यही जीवन का एक योग है। गीता ने इसे ही बड़े सुन्दर और सरल ढंग से कहा है—

योगः कर्मसु कौशलम्।

अपना-अपना चश्मा

●

एक मित्र के विवाह का निमन्त्रण आया था इसलिए इस समारोह में शरीक होने के लिए गया। साथ में दो-तीन दोस्त और थे। विवाह के शुभ-उत्सव में हाजिर होने से आनन्द तो आता ही है, लेकिन उससे ज्यादा जो उत्सुकता रहती है वह वर और वधू को देखने की। आखिर यह जोड़ा कैसा शोभेगा। वर को तो हम जानते थे, सवाल सिर्फ उस व्यक्ति को देखने का था जो उसकी पत्नी बनने वाली थी।

उस स्त्री को देखकर एक दोस्त बोल उठे, "भई, पसन्दगी तो कुछ अजीब-सी है। बात जॅची नहीं।' दूसरे साहब जो उनसे सहमत थे, बोले, "और सुनते हैं यह लव-मैरेज (प्रेम-विवाह) है।'

"प्रेम अन्धा होता है भाई, जानते नहीं?" ये सज्जन भी उन्हीं से सहमत थे।

"यह सब तुम किसकी नज़र से देख रहे हो ?" मैने कहा, "जरा

उसकी दृष्टि से देखो तो मालूम पड़े कि उस स्त्री जैसी सुन्दर कोई दूसरी रमणी नहीं है।"

और दरअसल एक सप्ताह बाद जब वे नवविवाहित मित्र मिले तो आनन्द से चमकती हुई आँखो से उन्होने कहा, "मेरे जैसा सुखी ससार मे कोई नहीं है।" उन्होने जो बात कही वह ठीक थी। दूसरे दोस्त लोग ख़ामख़्वाह उनके लिए परेशान हो रहे थे।

यह वृत्ति हमे आम तौर पर दिखायी देती है। हम सारी दुनिया को अपने ही चश्मे से देखते हैं, और जो इस तरह नही देख सकते उनपर तरस खाने लगते हैं और मन-ही-मन ख़याल करने लगते हैं कि वे दूसरे आदमी हमसे किसी-न-किसी तरह न्यून हैं। हमे यदि 'बिहारी सतसई' अच्छी लगी तो हम आशा करते हैं कि दूसरे भी उसे उसी तरह पसन्द करे। यदि वे ऐसा नही करते तो हम सोचते हैं—उन्हे साहित्य से रुचि नही है। यदि हम शिवजी की पूजा करते हैं तो वैष्णवो को हम धार्मिक दृष्टि से गौण मानते हैं। यदि हमने केदारधाम की यात्रा की है तो रामेश्वर या द्वारिकापुरी के तीर्थयात्री से बड़े मौज के साथ कहेंगे, "पण्डित जी, बिना केदारधाम के पूरा पुण्य नही मिलेगा। सब क्षेत्रो मे केदारधाम का महत्व कुछ अलग ही है।" ज़ाहिर है कि यह आग्रह ठीक नही है। किसी को भैरवी राग सबसे अच्छा मालूम होता है तो किसी को दरबारी कानडा। यदि मेरे चश्मे का फ्रेम सोने का है तो मै यह क्यो सोचूँ कि जिनका फ्रेम काले गटापार्चे का है वह ख़राब है। अपनी रुचि या पसन्दगी दूसरो पर लादना ज़्यादती है। हर एक का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है, अपनी-अपनी रायें होती हैं। सब मनुष्यो का स्वभाव तो एक ढर्रे का कभी नही होता। उसमे इतनी विविधता है इसीलिए तो दुनिया मे इतना मज़ा है, नही तो हम इन्सान नहीं, कारखाने मे बनी हुई एक-सी गुड़ियाँ बन जाते और ज़िन्दगी बिलकुल बेजायका हो जाती।

लेकिन नहीं, हम सब उम्मीद करते हैं कि और लोग हमारे जैसा ही करे, हम जो पढ़ते हैं वे भी वही पढ़े, हमारे जैसे कपड़े पहने। इसमे हमारी अहमियत बढ़ती है और अहभाव को सतोष मिलता है। बीमारी मे अगर एलोपैथी का इलाज शुरू किया तो फौरन कोई सज्जन आकर कहने लगेगे—'अजी साहब क्यो नाहक वक्त और पैसा बर्बाद कर जान का खतरा मोल लेते हैं. बेहतर हो यूनानी हिकमत की रू से इलाज करवाये, फौरन आराम होगा।' दूसरे साहब कहते हैं—'आयुर्वेद तो प्रत्यक्ष धन्वन्तरि का चिकित्सा-शास्त्र है। तीन मात्रा मे फायदा न हुआ तो मैं कविराज नही।' तीसरे कह उठेगे—'बस साहब रहने दीजिए ये सब बाते। होमियोपैथी बिलकुल इनकलाबी साइन्स है। दस हजार पोटेन्सी की एक खुराक से बुखार ऐसा भाग खडा होगा कि फिर जिन्दगी मे कभी आने का नाम न लेगा। क्यो नाहक आयुर्वेद या एलोपैथी के पीछे परेशान होते हैं? इन सब अलग-अलग डाक्टरो में इस कदर मतभेद और झगडा रहता है कि मरीज क्या करे क्या न करे? इसी कारण तो वह त्रस्त होकर पुकार उठता है, "वैद्यराज नमस्तुभ्यम् ... ।"

जरा सजीदगी से सोचे तो मानना होगा कि प्रत्येक चिकित्सा-प्रणाली मे कोई-न-कोई चीज बहुत अच्छी है। चूँकि हमारा किसी एक विज्ञान पर यकीन है इसलिए हम बाकी सब को वाहियात समझे तो हमारी गलती है। ऐसा दुराग्रह हमे कभी नही रखना चाहिए।

इसी रुचि या पसन्दगी के बल पर फिर हम लोगो मे ऊँच-नीच का भेद करने लगते हैं। अगर कोई जो अंग्रेजी जानता है, अंग्रेजी न जानने वाले को बेपढ़ा या गँवार समझने लगे तो कितना बडा अन्याय है? अगर मैने शेक्सपियर पढ़ा होगा तो कई विद्वान ऐसे हैं जो अंग्रेजी का एक लफ़्ज नहीं जानते लेकिन कालीदास के सस्कृत नाटको का मजे के साथ रसास्वादन करते हैं, जहाँ मैं उस कविकुल-गुरु के दो श्लोको का सही

अर्थ लगाने में गडबडा जाता हूँ। जो ब्राह्मण कुल मे जनमते हैं, वे समझते हैं कि नीच शूद्रो की छाया पर उनका पैर भी नही पड़ना चाहिए। माना कि एक जमाना था जब ब्राह्मणों ने सस्कृति और ज्ञान की ज्योति को जगाया और आज भी शायद कुछ ब्राह्मण शुद्ध सात्विक प्रवृत्ति के मिलेंगे। लेकिन सिर्फ इसलिए आप शूद्र के महत्व से इनकार नहीं कर सकते। कल अगर मेहतरो की हडताल हो जाय तो तमाम शहर मे इस तरह गन्दगी और रोग-राई फैल जाय जो ब्राह्मणो की सन्ध्या और जप से रोकी नहीं जा सकती। ठीक उसी प्रकार यदि दुनिया मे ज्ञान और चिन्तन को जगाने वाले व्यक्ति न रहें, जो कि ब्राह्मण का धर्म है, तो समाज पतनोन्मुख होकर पशुवत हो जाय। गरजे कि समाज व्यवस्था के लिए यदि ब्राह्मण आवश्यक अग हैं तो शूद्र भी उतने ही आवश्यक हे—न कम न वेशी। इसमे चूँकि सब मनुष्य हैं, किसी को ऊँचा या नीचा मान लेना ठीक नहीं। दोनों अपना-अपना कर्म करते हैं इसलिए हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं।

सिंह और चूहे की कहानी मशहूर है। चूहा सोये हुए सिंह के बदन पर खेल रहा था। सिंह की नींद खुल गयी और उसने चूहे को अपने पजे में पकड कर मार डालने का इरादा किया। चूहा गिड़गिड़ाकर बोला, 'नही मुझे मत मारो। मुमकिन है किसी दिन मै तुम्हारे काम आ सकूँ।' सिह घमण्ड से बोला, 'छिः तू क्या मेरे काम आयेगा ? मैं जंगल का राजा ठहरा और तू है ज़रा सी जान। ख़ैर मैं रहम खाकर छोड देता हूँ, अब ऐसा मत करना।' इत्तफाक की बात है कि वही सिंह किसी शिकारी के जाल मे फँस गया और चूहे ने अपने पैने दाँतों से जाल की रस्सियाँ काटकर उसे मुक्त कर दिया। सिंह जंगल का राजा था फिर भी चूहा जो काम कर सका, वह ख़ुद सिंह नहीं कर सका। छोटी दीखने वाली चीजो का भी महत्व होता है।

अंग्रेजी में लांगफेलो की बड़ी सुन्दर कविता है जिसका शीर्षक है—'पहाड़ और गिलहरी' (The mountain and squirrel) पहाड़ ने अपनी तारीफ के पुल बाँध दिये कि मैं बादलों को रोक सकता हूँ, मेह बरसाता हूँ, अपनी पीठ पर जगल लगाता हूँ। गिलहरी ने जवाब दिया कि हाँ यह सब ठीक है। यदि मैं अपनी पीठ पर जगल नहीं ले जा सकती तो तुम भी तो एक सुपारी नहीं फोड़ सकते। हर एक चीज़ का अपना मूल्य होता है। सबको एक ही पेमाने से नापना गलत है।

हमारे मत, हमारे विचार, हमारा आचरण सही है और दूसरा का गलत है, इस ख़याल के लिए भी इसी प्रकार की विचार प्रणाली ज़िम्मेदार है। जो हमने देखा वही ठीक है और दूसरी बात हो ही नहीं सकती, ऐसा आग्रह रखना बुद्धिमानी नहीं है। हर एक सवाल के कई पहलू होते हैं और यदि हम उसे अच्छी तरह हल करना चाहते हैं तो हमें सब पहलुओं पर विचार करना चाहिए। सिर्फ एक ही बाजू पर गौर कर के हम उसकी तह मे नहीं पहुँच सकते। एक बार छः अन्धे आदमी, जो साथ-साथ जा रहे थे, एक हाथी से टकरा गये। वे थे तो जनम के अन्धे, लेकिन जो सुना था उसके बल पर उन्होने अन्दाज़ किया और सही अन्दाज़ किया कि यह हाथी है। एक आदमी जिसका हाथ उसके कान पर पड़ा, बोल उठा, 'अरे यह हाथी तो सूप जैसा है।' दूसरे का हाथ उसकी पूँछ पर पड़ा और वह चिल्ला उठा, 'अरे यह हाथी तो रस्से के समान है।' एक का हाथ उसकी पीठ पर पड़ा, वह बोला, 'नहीं, यह तो दीवार की तरह है।' फिर और एक का हाथ उसके पैर से छू गया तो बोला, 'नहीं नहीं भाई, यह तो खम्मे के समान है।' इस प्रकार जिसको जो अनुभव हुआ उसी के मुताबिक उसने अपनी राय कायम की और उनका आपस में वाद-विवाद होने लगा। हर एक ने उस हाथी को एक खास पहलू से देखा और अनुमान किया कि उसी का कहना सच है। असल बात तो यह है कि उन

सब का कहना एक हद तक सच था, और एक हद तक ग़लत। उन सब के अनुमानो का जोड तथा और भी बातों का समावेश उस हाथी नाम के प्राणी मे होता था। वे सब आशिक रूप मे सही थे, लेकिन सिर्फ आशिक रूप में ही। सही तो वह आँखो वाला आदमी हो सकता है जिसने हाथी को सब बाजुओं से देखी हो और फिर अपनी राय कायम की हो।

हम सब कम या अधिक प्रमाण मे इन अन्धे आदमियो की तरह हैं। किसी चीज को एक खास नुक्ते-नजर से देख लेते हैं और फिर दावा करने लगते हैं कि बस हमी एक ठीक हे बाकी सब गलती पर हैं। लेकिन हर सवाल के दो पहलू तो होते ही हैं। बुद्धिमानी इसी मे है कि उन दोनो बाजुओं को बराबर तौल कर जो वाजिब बात है वह की जाय, उसी मे भलाई भी है। अगर ऐसा नहीं करते तो न जाने कितना झगड़ा, कितनी कटुता और मनोमालिन्य पेदा होता है।

कुछ सिपाही जो छुट्टी पर थे, घूमते-घूमते एक पुराने किले के खण्डहरों को देख रहे थे। एक सॅकरे दरवाजे पर पत्थर की कमान थी जिसके बीचोबीच ढाल जैसी सुन्दर शिला थी। उस सॅकरे रास्ते मे से एक बार एक ही आदमी निकल सकता था। मौक़े की बात है कि उसी वक्त दोनो दिशाओं से यानी एक दूसरे के आमने-सामने से दो सिपाही आये और चूंकि रास्ता सॅकरा था, वे दोनो सहम गये—ठहर गये। उन दोनो की नजर एक ही साथ ऊपर की उस ढाल जैसी शिला पर पडी। एक बोला, 'ओ हो, वह देखो उस पर कमल का कितना अच्छा चित्र बनाया गया है।'

दूसरे सिपाही ने उसे निहारते हुए कहा, "कमल का? छिः वह कमल थोड़े ही है? वह तो तलवार है।"

पहला बोल उठा, "नहीं जी, वह कमल साफ़ तो दीख रहा है—वह देखो, उसका डठल, और पत्र।"

दूसरा झल्ला उठा, "अरे अन्धे तो नहीं हो गये ? वह तलवार, उसकी वह कमान और नोक, साफ नहीं दिखती ?"

पहला गुस्से मे बोला, "अन्धे तो तुम हो..... "

इसी तरह गाली गलौज होने लगी, जब गुस्सा इतने पर भी न रुका तो दोनो ने अपनी-अपनी म्यान मे से तलवार खींच ली और लगे वहीं लड़ने। नतीजा यह हुआ कि दोनों ही जख़्मी हो गये और दोनो ही उस दरवाजे की देहरी पर आर-पार लुढ़क पड़े। जब वे इस हालत मे थे तब उन दोनो की नजर उस शिला की दूसरी बाजू की ओर गयी तो उन्होंने देखा कि वे दोनों ही सही थे क्योंकि उसके एक तरफ कमल था और दूसरी तरफ तलवार। दोनो ही पछताये कि पहले ही वे दूसरी बाजू देख लेते तो इतनी ख़ून-ख़राबी क्यो होती ? लेकिन यह अक्ल उन्हें काफी देर से आयी।

इस दोष के कारण अर्थात् किसी सवाल के दूसरे पहलू की तरफ न देखने के कारण हम रोजमर्रा के जीवन मे तकलीफ़ उठाते हैं। हाँ, इन सिपाहियो की तरह हम तलवार तो नहीं चलाते, लेकिन हमारे हाथ में इससे भी बुरे शस्त्र हैं यानी जबान और क़लम। उसे चलाने में बिलकुल नहीं चूकते। उन सिपाहियो की लड़ाई मे तो सिर्फ दो का ही नुकसान हुआ, लेकिन हमारी जबान और क़लम की लड़ाई में तो न जाने कितनी कटुता, गन्दगी और घृणा फैलती हैं। राजनैतिक तू-तू, मैं-मैं में यह बात आमतौर पर देखी जाती है। हम जिस पालिसी को मानते हैं वही ठीक है, इस धारणा से प्रेरित होकर हम दूसरी पार्टी के लोगों को कोसते हैं, नीचा दिखाते हैं, उनपर भले-बुरे आरोप लगाते हैं। इलेक्शनबाज़ी के बुख़ार से कैसा भयकर और गन्दा वातावरण पैदा होता है यह सब जानते हैं। जो वृत्ति राजनैतिक क्षेत्र में है, वही सामाजिक या धार्मिक क्षेत्र में भी है।

इसको हम रोक सके तो बड़ा कल्याण हो। समाज के विविध अंग हैं,

उन सब की सेवा, लोग अपनी-अपनी रुचि और शक्ति के मुताबिक करते हैं, उसकी हमे दाद देनी चाहिए। इसमे ऊँचे-नीचे का भाव क्यो ? गाधी जी और माननीय श्रीनिवास शास्त्री की मित्रता हमारे देश के वर्तमान इतिहास की एक अजीब घटना है। शास्त्री जी को गाधी जी का तरीका बिलकुल पसन्द नही था और न गाधी जी को शास्त्री जी का। फिर भी दोनों अनन्य मित्र थे, क्योंकि वे एक-दूसरे को समझते थे और एक-दूसरे की सच्चाई पर विश्वास करते थे। मतभेद की इतनी गहरी खाई उनके आपस के प्रेम और सद्भाव के आड़े नही आ सकी। क्यो न हम सब उनका आदर्श ग्रहण करे'? भले ही हम काग्रेसी हों या हिन्दू सभावादी या मुस्लिम लीगी या समाजवादी या क्रान्तिवादी या अराजकवादी। महज इसीलिए कि हम अलग-अलग क़तार मे बैठे है, हमे दूसरो को दुश्मन नहीं समझना चाहिए। अपने-अपने दायरे मे हर एक का महत्व है और हमे यह मान कर चलना चाहिए कि वे अपने विचारों के प्रति ईमानदार हैं। अगर वे गुमराह हैं तो उन्हे अपने कामो से और चरित्र से, न कि कड़वे शब्दो से सही रास्ते पर लाने की उम्मीद करनी चाहिए! जहाँ तक हो उनकी बाजू भी हमे देखनी चाहिए। हम अपनी श्रद्धा और विचारो के प्रति पक्के रहें और उसी के मुताबिक आचरण भी करे तो देखेगे कि गन्दगी और कटुता का बवण्डर शीघ्र ही शान्त हो जायगा। जो असर पड़ता है वह कृति का पड़ता है, वाणी का नहीं।

नौकरो की मुसीबत



आज सुबह से ही श्रीमती वर्मा बड़ी परेशान हैं। क्या करें, क्या न करें, सूझ नहीं पडता। रविवार का दिन समझ कर आज ही चाय-पार्टी का आयोजन किया। चार परिवारों के श्री-श्रीमतियो को निमन्त्रित किया था, जिनमे रेडियो स्टेशन के सहायक सचालक भी थे। उन्होंने 'नारी-निकेतन' में उनकी पाँच मिनट की एक 'टॉक' रख दी थी, जिसका विषय था—'गृह सचालन मे स्वावलबन।' इसमें श्रीमती वर्मा ने जोर देकर बताया था कि बिना नौकरों पर अवलम्बित रहे घर की व्यवस्था कैसी रखी जानी चाहिए। इसकी सारी सामग्री उन्हे 'महिला' मासिक के एक लेख मे बनी बनायी मिल गयी थी।

पर आज उनकी सबसे बड़ी परेशानी का कारण यही था कि सुबह नौ बजे तक उनका नौकर भैरोलाल नहीं आया था, और नौ बजे बाद जो आया तब वह स्वय नहीं, पर उसका यह सदेसा था कि आज उसके मामू का देहान्त हो जाने के कारण वह काम पर हाजिर न हो सकेगा। यों

भैरोलाल का परिवार बहुत बडा मालूम पडता है, क्योंकि हर सात-आठ दिन मे कोई-न-कोई रिश्तेदार वेचारा गुजर ही जाता, और उसकी मैयत में जाने के कारण श्रीमती वर्मा से छुट्टी लेनी पडती। एक बार गुस्से में आकर उन्होने उससे कह भी डाला—"तू ख़ुद क्यो नही अपनी 'मैयत' मे एक बार चला जाता।" पर भैरोलाल शायद रामायण-गीता के वचनामृत पढ़ता था, इसीलिए जवाब मे केवल इतना ही बोला—"हाँ मालकिन, एक बार तो उसमे भी जाना होगा।"

पर आज रेडियो वालो के निमत्रण के कारण बिना नौकर के उनका काम चलना एकदम मुश्किल था। सारा दिन हर किसी पर गरजती रहीं और चूल्हे के पास झुलसती रहीं, और जब साड़ी बदल कर और स्नो-पाउडर लगाकर पार्टी मे शरीक होने आयी तब सारे वक्त नौकरों का रोना ही रोती रही। मेहमानो ने खाने के पदार्थों की बड़ी तारीफ की और बार-बार बात बदलने की कोशिश की, लेकिन श्रीमती वर्मा को भैरोलाल और उसकी जाति के घरेलू नौकरो के सिवा कोई बात नही सूझती थी। "क्या करें, आज कम्बख़्त हमारा नौकर नही आया" ..इस वाक्य का जप जैसे १०८ गुरियो की माला के साथ होता रहा। स्वागत मे यही वाक्य, तो विदाई के वक्त भी यही वाक्य। उनके पति भी हैरान थे और मेहमान भी।

उस दिन श्रीमती वर्मा का 'मूड' जरा ख़राब था, वरना उन्हें इस मजेदार परिस्थिति से हँसी आये बिना नहीं रहती कि आज जो गृहणी भैरोलाल की गैरहाजिरी से इतनी त्रस्त हो गयी थी, उसने रेडियो की वार्ता में कितने ठाठ से कहा था कि गृहणियो को सारा काम अपने-आप ही करना चाहिए, नौकरों के भरोसे बिलकुल नहीं रहना चाहिए, स्वास्थ तथा सौंदर्य का तथा किफायती जीवन का यही रामबाण उपाय है, आदि-आदि।

भैरोलाल सचमुच बड़े काम का आदमी रहा होगा, वरना श्रीमती वर्मा

उसकी गैरहाजिरी को इतना महसूस न करतीं। वह जब आता है तब दरअसल उन्हें कुर्सी पर बैठकर मुँह चलाने के सिवा कोई काम नहीं रहता। फ़र्क़ सिर्फ इतना ही था कि आज उसके न आने से उन्हें अपना मुँह और हाथ-पैर दोनो चलाने पड़े।

यह नौकरों की संस्था बड़ी पुरानी मालूम पड़ती है। भृत्य, नौकर, दास-दासी—कई तरह के इनके नाम हैं, और काम यही कि अपने ही जैसे दो हाथ-पैर वाले प्राणी की सेवा करना और उससे तनख्वाह या अन्न-वस्त्र पाकर अपनी जीविका चलाना। साधारण बातों को गम्भीर स्वरूप देकर वर्णन करनेवाले लोगों की राय में यह संस्था पूँजीवादी समाज की पैदाइश है, जिसकी भित्ति घोर शोषण-वृत्ति पर आधारित है और जिसका विनाश भयंकर क्रान्ति के बिना सम्भव नहीं।

बड़े-बड़े शब्दों से तो डर लगता है और अपनी जैसी साधारण बुद्धिवालों को समझने में थोड़ी कठिनाई भी मालूम पड़ती है। मनुष्य का नौकरों पर अवलम्बित रहना छूट जाय तो उसके बहुत से दुख ही दूर हो जायँ, इसमें शक नहीं। नौकरों की ही क्या बात, अन्य बातों में भी परावलम्बन छूट जाय और प्रत्येक का जीवन आत्म निर्भर हो जाय तो उसके सुख और शान्ति की सीमा नहीं। इसमे सम्पूर्ण मुक्ति न भी मिले, पर जितने अधिक परिमाण में वह मिलेगी उतने ही अधिक परिमाण में हमें सुख मिलेगा, इसमें सन्देह नहीं।

यदि स्वयं श्रीमती वर्मा को भोजन और पकवान बनाने का अभ्यास रहता और उनके पति में तथा उनमें सहयोग की यह भावना रहती कि अपने घर का सब-कुछ काम करने में कोई तौहीन नहीं है या फिर श्रीमती वर्मा का अपने पास-पड़ोस के लोगों से इतना घनिष्ठ और आत्मीय सम्बन्ध होता कि वे किसी को भी सहायता के लिए निस्संकोच बुला सकती तो उस दिन की उनकी सारी परेशानी मिट जाती।

मुझे अपने बचपन के ऐसे ग्राम-भोजन याद हैं जिनमे गॉव भर के स्त्री-पुरुष मिलकर लीपा-पोती से लेकर खाना बनाने और बर्तन-भॉडे साफ़ करने तक के कामों मे शरीक होते और हॅसते-खेलते दिन बिता देते। जिस किसी के यहॉ भी सह-भोज हुआ या कोई कथा या विवाह-कार्य हुआ कि अडोस-पड़ोस की स्त्रियॉ उसे अपना काम समझकर सहारा देने दौड़ पडती—सच्चे दिल से, दिखावे के लिए नहीं।

पर आजकल हमारी जीवन-प्रणाली ही कुछ अलग बन गयी है। श्रीमती वर्मा की ही बात क्या कहे, घर-घर मे आज यही दीख रहा है। हम छोटे-छोटे घरौंदों में बॅटते और अपने आस-पास सॅकरी दीवारे खड़ी करते जा रहे हैं। जब श्रीमती वर्मा ने किसी के काम-काज या सुख-दुख में कोई साथ ही न दिया हो तो वह भी बेचारी किसी को किस मुॅह से बुलाएॅ? सौभाग्य से पति की तनख्वाह अच्छी है, नौकर-चाकर रखे जा सकते हैं और अगर किसी दिन भैरोलाल नही आया तो होटल से खाना तो आ ही सकता है। इसमे परेशानी होती है, ख़र्च भी अधिक होता है। आहार और आराम तो मिलता है, पर सच्चा सुख नही मिल पाता और एक अस्पष्ट अशांति-सी जीवन मे छायी रहती है।

नौकर लोग भी आख़िर ताड ही जाते हैं कि जब उन पर इतना अवलम्बित रहा जाता है और उनके बग़ैर काम ही नहीं चलता, तब लो चलो, मारो हाथ, जितना बने लेते चलो। मालिक और मालकिन की ग़ैरहाजिरी में उन्हीं की कप-तश्तरी मे चाय पीना, पान-तमाखू खाना, साबुन तेल लगाना, उनके दौरे पर जाने के बाद उन्ही के पलग पर मसहरी लगाकर शान से सोना, घी-शक्कर का बड़े प्रेम से उपयोग करना—ये सब बातें रोज़मर्रा के अनुभव की हैं। जो मालिक नौकरो पर अधिकाधिक आश्रित रहते हैं, उन्हें ये सब बातें बर्दाश्त करनी पडती हैं और नौकर

भी यह बात देखकर हाथ-पैर पसारने लगते हैं। पर साबुन-तेल से हमेशा नौकरों का फायदा ही होता है, सो बात नहीं। एक बार ऐसी ही मजेदार घटना हुई—

मेरे एक दूर के रिश्तेदार अच्छे सरकारी ओहदे पर थे। जरा चलते पुरज़े भी थे। वह जब कचहरी चले जाते तब उनके नौकर महोदय उन्हीं के बाथरूम में तेल और साबुन का उदारतापूर्वक व्यवहार करके "किस्सा तोता मैना" के गीत गाते हुए 'अश्नान' करते। साहब ने यह देखकर एक दिन किसी विशिष्ट प्रकार का तेल और साबुन लाकर रख दिया। जब श्रीमान नौकरजी ने तेल लगाया तब देखा कि आज बाल न जाने क्यों कमज़ोर होकर उखड़-उखड़ रहे हैं। ख़ैर, जो बात हो। जब साबुन लगा कर सिर धोने लगे तब देखा कि बालों के बड़े-बड़े गुच्छे हाथ में आने लगे। बड़े घबराये! कहीं 'भूत-पिशाच' तो नहीं छू गया! जैसे-तैसे नहाकर आइने में देखा तो सिर में कहीं घुटी चाँद तो कहीं झाड़-झुरमुट। फ़ौरन बाजार जाकर नाई से पूरा सिर घुटवा लिया और टोपी पहनकर मालिक के स्वागत के लिए तैयार हो गये। साहब ने कचहरी से लौटने पर पूछा :

"क्यों शिवशरण, आज ये बाल क्यों कटवा लिये?"

"हुज़ूर, देस से कारड आया था कि मेरे दादा का स्वरगवास हो गया।" मालिक मन-ही मन हँसे। पर इसका नतीजा यह हुआ कि दूसरे दिन से नौकर का बाथरूम में नहाना बन्द हो गया।

पर सभी नौकर इस प्रकार चतुर नहीं होते। कोई तो चले आते हैं नौकरी की तलाश में, किसी तरह पेट भरने। देश में जोरू छोड़ आते हैं और साथ में एक डंडा ले आते हैं। समझदारी से ज्यादा सम्बन्ध नहीं रखते। उनकी सबसे सजीव और जोरदार इन्द्रिय रहती है—पेट। बस उसी दृष्टिकोण से वे सब कुछ देखते हैं। बहुत बात चल पड़ी तो वे

प्रामाणिकता से कह देते हैं—"हुजूर हमे अक्किल-वक्किल कहॉ ! हम कौन कोई इलम पढे हैं।" ऐसे नौकरो की भोजन बनाने मे और उससे भी अधिक खाने मे ही रूचि रहती है। तेल-साबुन से उन्हें कोई वाकफियत नहीं रहती। ऐसे ही एक नौकर का किस्सा मेरे एक जज मित्र ने सुनाया—

एक रोज कचहरी जाने के पहले उन्होने नौकर को बुलाकर कहा—"देखो गगापरशाद ! हम जहॉ नहाते हैं न........."

"जी हॉ !" इतने जोर से सिर हिला कि मालूम हुआ, बात समझ में आ गयी।

"वहॉ हम रूमाल छोड जायॅगे, उसे धो डालना, भला ? वहाँ दो साबुन रखे हैं। एक है सफेद और एक है लाल।" (जाहिर है कि जज साहब बदन के लिए पियर्स और कपड़े धोने के लिए सनलाईट साबुन का इस्तेमाल किया करते थे।) "तो लाल से मत धोना, सफेद से धोना। समझ गये या नही ?"

"हॉ साहिब, इतना तो जरूर समझ गया।"

"बस तो ठीक है।" यह कहकर साहब पतलून चढ़ाकर अदालत चले गये। वह रूमाल बाथरूम में रखना भूल गये या नहीं, इसका उन्हे स्मरण नहीं। पर जब चार बजे दफ़्तर से लौटे तब पण्डित गगापरशादजी ने पियर्स साबुन की बट्टी दिखाते हुए, जो खिड्की के कॉच की तरह पतली हो गयी थी, कहा—"साहिब, बस इससे साफ़ नहीं हो सकती। हम बहुत रगड-रगड़ के धोये ..

"अरे क्या धोये ? अपना सिर ?"

"नहीं हुजूर, हम गगा कसम खाकर कहते हैं यदि हमने सिर को साबुन लगाया हो तो। हम तो जोन लाल रग का साबुन रहा तौन धोते रहे, और वही सफ़ेद साबुन जौन आप बताये रहे वही हम इसे रगड़-

रगड के लगाये रहे। रग कुछ फीका तो हुआ पर एकदम चूने की तरह सफेद नहीं हो पाया साहिब।"

साहब ने सिर पर हाथ मारकर कहा—"धन्य हो गगापरशाद! पर सफेद साबुन लगाकर लाल साबुन धोने के लिए तुमसे किसने कहा था? हम तो रूमाल धोने के लिए कह गये थे"

"रूमाल हमें नहानी-घर मे नहीं मिला मालिक! गगा कसम.."

जज साहब को हँसी आ गयी। जरा साहित्यिक प्रवृत्ति के आदमी थे, इसलिए उस हँसी में पियर्स साबुन के धुल जाने मे चन्द आने का जो नुकसान हुआ, उसे भूल गये।

ऐसे नौकरों को रखने से खाने पीने का बजट भले ही बढ़ जाता है, पर और कोई नुकसान नहीं हो पाता। पियर्स साबुन का नुकसान तो महज एक 'एक्सिडेंट' है, जो अक्सर हो जाया करता है। मालिक का एक महीने का 'राशन' इनके लिए एक सप्ताह के लिए ही पूरा होता है। ऐसा लगता है जैसे हाथी पाल रहे हों, पर एक बड़ी सुविधा भी रहती है। क्योंकि उनकी नौकरी मे खाना बनाने के साथ खाना खाने की भी शर्त रहती है, वे श्रीमती वर्मा के भैरोलाल की तरह बार-बार छुट्टी नहीं लेते। उन्हे रात मे १०४ डिगरी का बुखार भी हो जाय तब भी सुबह ड्यूटी पर हाजिर रहते हैं। भोजन-प्रिय होने के कारण वे सचमुच "अन्न ब्रह्म्" के मूल तत्व के पुजारी होते हैं। एक दिन काम पर नहीं गये तो खायँगे क्या? इस लिए न गैरहाजिर रहते हैं और न खाना बनाने मे कोई बेगार टालते हैं। लेकिन इसके अलावा कोई दूसरा काम उन्हे मत बताइए, वरना गाड़ी तक चूक जाने का मौका आ सकता है, सो इस प्रकार—

बात उन दिनो की है जब दूसरा महायुद्ध चल रहा था और रेलगाडियाँ घटों लेट आया करती थी। एक छोटे ज़िले की बात है जहाँ

टेलीफोन नही था। साहब को मेल से जाना था और वह तीन घटे लेट थी। स्टेशन पर मक्खी मारते बैठे रहने से क्या फायदा! सो उन्होने अपने पाक-कर्ता महोदय को बुलाकर कहा—"देखो ब्रजभूषण। तुम स्टेशन चले जाओ और ज्योंही गाडी अगले स्टेशन से छूट जाय, फौरन आकर हमे इत्तला दो। समझ गये?"

"हाँ साहिब!" कहकर ब्रजभूषणजी ने इतनी जोर से सिर हिलाया कि काम ठीक हो जायगा इसका भरोसा हो गया।

अगले स्टेशन से यहाँ तक गाड़ी आने मे पैंतीस मिनट लगते थे। इतने मे स्टेशन बडी आसानी से पहुँचा जा सकता था। मालिक राह देखते रहे, पर ब्रजभूषणजी डेढ घटे में लौटकर बोले—"हाँ साहब, गाडी छूट गयी।"

"शाबास! बड़े होशियार हो। जाओ, ड्राइवर से गाडी लाने के लिए कहो।"

बीस मिनट के भीतर ही गाडी साहब को लेकर वापस स्टेशन से लौटी। साहब गुस्से मे बोले—"क्यो जी, तुमने ऐसे कैसे ख़बर दी? गाड़ी तो आध घटे पहले ही छूट गयी। अब जाने से फायदा?"

"हाँ साहिब छूट तो जरूर गयी होगी। हम खुद अपनी आँखों से देख आये थे। हमारे सामने गाडी स्टेशन पर आयी और जब लौं वह ठाड़ी रही तब लौं हम उसे बराबर देखत रहे। और जब वह छूट गयी तब फौरन आयके आपको खबर दीन्ह।"

साहब अवाक् रह गये। फ़ौरन तार दिया कि गाडी छूट जाने के कारण नहीं आ सके और कान पकड़ लिया कि पडित ब्रजभूषण से खाना बनाने के सिवा अब और कोई काम नही लेगे।

एक बार ऐसा हुआ कि परिवार के लोग रिश्तेदारी में दूसरे गाँव

चले गये तो मै अकेला रह गया। होटल से खाना आया करता था। एक रविवार को खाने मे 'चेंज' हो जाय, इस गरज से एक मित्र के यहाँ सदेसा भिजवाया कि मैं शाम को उन्हीं के यहाँ भोजन करने आऊँगा। मेरा नौकर हाल ही 'देस' से आया था और शहर की भाषा और बोलचाल मे अभी प्रवीणता नहीं प्राप्त कर पाया था। फिर भी मैंने अपने ख़याल मे उसे मित्र के मकान का पता, उसका हुलिया, सब कुछ अच्छी तरह समझा दिया। उसे एक बार दुहरा भी दिया। नौकर एक घंटे में लौटकर बता भी गया कि सदेसा दे आया है। मैं एक पत्र लिख रहा था, आधे ध्यान से पूछा—"क्या दे आये ?"

"खाने का बता आया हूँ, मालिक।"

"बहुत अच्छा," मैंने कहा।

शाम को जब मै अपने मित्र के मकान पर जा रहा था तो वह मुझे छड़ी घुमाते हुए रास्ते मे ही मिल गये—नहा-धोकर, साफ़ सुथरे !

"अरे भाई, कहाँ जा रहे हो ?" मैंने पूछा।

"वाह, अजीब सवाल है ? मे तो तुम्हारे ही यहाँ खाना खाने जा रहा हूँ।" मित्र ने कहा।

"ख़ूब ! मै भी तो तुम्हारे ही यहाँ खाने के लिए जा रहा हूँ। नौकर के हाथ से सुबह सदेसा नही भिजवाया था।"

"उसने तो कहा कि आपको खाना खाने के लिए बुलाया है। मैने सोचा, तुम 'हॉलिडे मूड' में होगे, ख़ुद ही खाना बनाया होगा और इसीलिए मुझे बुलाया होगा।"

"वाह रे नौकर।" मैंने कहा, "ख़ैर, अब दोनो जगह चूल्हा ठडा है। चलो, 'क्षुधा शाति भोजनालय' में ही चलें और वहाँ नौकर महाशय की जय मनाकर भोजन ग्रहण करें।"

पर सब नौकर एक से नहीं होते, क्योकि दुनिया में सब आदमी एक से

नहीं होते। कही नौकर शातिर बदमाश हैं तो कही मालिक जालिम और शक्की। यों तो नौकर मालिक का झगडा सास-बहू या मकान मालिक-किरायदार के झगड़े की तरह शाश्वत है, सनातन है। दोनो एक दूसरे को 'श्वानवत् गुरगुरायते' की दृष्टि से देखते हैं। कई नौकर तो सिवा कामचोरी के और कुछ नही करेंगे। और कुछ ऐसे मालिक हैं जो हमेशा नौकरों पर गरजते ही रहते हैं। उनके साथ पशुवत बरताव करते हैं, और जब नौकर छोडकर जाने लगता है तब इतने परेशान हो जाते हैं कि उसकी इन्तहा नही। फिर ख़ुशामद भी होने लगती है जिससे वह और भी सिर पर चढने लगता है। इसीलिए आवश्यकता है एक-दूसरे को सँभाल लेने की। नौकर को भी आख़िर कही नौकरी करनी है और मालिक को भी किसी-न-किसी को रखना ही है। फिर क्यो न जो नौकर है उसीके साथ आदमी का सा व्यवहार करके उसीको ठीक से निभाया जाय। मनुष्य चाहता है थोड़ा सा सद्-व्यवहार—इस बात का ज्ञान कि आप उसे आदमी समझ रहे हैं। और फिर वह जान लगाकर आपका काम करेगा। इसके साथ-ही-साथ यदि उसे यह भी मालूम हो जाय कि उसके जाने से आपका काम रूकेगा नहीं तो वह आपकी 'पर्मानेण्ट सर्विस' का मेम्बर ही बन गया समझिए।

लेकिन हमेशा अच्छाई का बदला अच्छाई से ही मिलता है, ऐसा नहीं। मेरे यहाँ भोजन बनानेवाले एक पण्डितजी थे, लेकिन उनका दिमाग़ ज़रा ख़ाली था—यानी करीब-करीब बिलकुल ख़ाली। मिजाज भी चिड़चिडा था। पर ज़्यादा खटकने वाली बात यह थी कि वह अपने एक बेकार जातभाई के लिए घी, चाय, शक्कर भी हमारे यहीं से 'सप्लाई' किया करते थे। उन्हें सुधारने की बहुत कोशिश की और (How to handle human nature) 'मनुष्य स्वभाव के साथ कैसे बरतना चाहिए' नामक पुस्तक के कुछ नुस्ख़े भी अमल में लाये गये, पर उनपर कोई विशेष असर

नही पड़ा। यों नौकरों को-निभाने के बारे में मुहल्ले मे मेरा 'रेप्युटेशन' कुछ बुरा नहीं है, फिर भी मैं इन पण्डितजी मे हार गया---उनमे छुट्टी पाना चाहता था। एकदम 'निकल जाओ' कहने के लिए भी जी नहीं करता था।

इतने मे एक दिन पण्डितजी बोले—"अगली शिवरात्रि को बड़े महादेव का मेला है। हमारे साथी जा रहे हैं। आप छुट्टी दे दें तो मैं भी जरा हो आऊँ।"

मध्यप्रदेश में यह वार्षिक मेला बड़ा मशहूर है। दो-दो सौ मील से यात्री पैदल चलकर मेले को जाते हैं· हालाँकि वहाँ पाँच-सात मील छोड़कर रेल या मोटर से भी जाया जाता है, पर श्रद्धालु यात्रियो की भावना है कि पैदल जाने से ही अधिक पुण्य मिलता है।

मैंने पण्डित जी से कहा..."हाँ, रामभरोस, जरूर हो आओ। पर रेलगाड़ी की अपेक्षा पैदल जाने में अधिक पुण्य है। जाना हो तो फिर पैदल ही जाना चाहिए।"

"हाँ मालिक, बड़ी नेक सलाह है। पर उसमें रास्ते मे खाने-पीने का ख़र्च ज़्यादा लगेगा।"

"उसकी फ़िकर मत करो मैं दे दूँगा। पर एक बात है। तुम्हारी ग़ैरहाजिरी में हमे दूसरा 'पण्डित' तो रखना ही पड़ेगा।"

मेले जाने और राह ख़र्च पाने के उत्साह में पण्डित रामभरोस बहुत दूर की नहीं सोच पाये। फौरन बोले—"हाँ साहिब, सो तो करना ही होगा।"

रामभरोस अपने सात-आठ रसोइये साथियो के साथ महादेव की पैदल यात्रा पर निकल पड़ा। वहाँ सबने अपने-अपने मालिको का गुण-अवगुण गाया होगा, जिसके फलस्वरूप शायद रामभरोस का मेरे बारे में मत सुधर गया मालूम पड़ता था, क्योंकि एक महीने के बाद जब वह

यात्रा से लौटा तब त्रिपुण्ड लगाये सीधा मेरे यहाँ आया और बोला साहिब, मेरी नौकरी ?

"अब तो हमने तुम्हारी जगह दूसरा पडित रख लिया है रामभरोस,—और सो भी तुमसे पूछकर रखा है। इसलिए जब तक वह अगले वर्ष शिवरात्रि के मेले पर नहीं जाता है तब तक तो कोई गुंजाइश नहीं है।"

रामभरोस को निराशा तो हुई, पर मुँह से बोला—"हाँ साहिब, सो तो ठीक है !"

बाद मे सुना कि रामभरोस ने तीन-चार जगह नौकरी की, पर कही भी पन्द्रह दिन से ज़्यादा नहीं टिका। आख़िर तग आकर वापस 'देस' चला गया। मुझे किसी ने बताया कि जाते समय वह मेरे बारे मे कह गया कि 'मालिक बड़े पुण्यात्मा हैं, धरम-करम का बड़ा ख़याल रखते हैं।"

मैंने सोचा, इस श्रेयस् का पाने का मै अधिकारी नहीं हूँ, पर हाँ, एक अड़चन से तो छुट्टी जरूर पा गया। क्या बुरा है ?

सामने मेज पर नजर गयी तो देखा...वही किताब पड़ी है "हाउ टु हैंडिल ह्यूमन नेचर।"

हाथी के दाँत



दरवाज़े की घंटी बजी। पता लगा कि कोई मिलने आया है। मैं अपने मित्र के यहाँ कार्यवश गया था। हम लोग चर्चा में मशगूल थे कि फिर वही घंटी बजी। मेरा मित्र इस विघ्न से ज़रा चिढ़ गया कि हमारे काम में बाधा डालने वाला यह कौन आ टपका। ऊपर खिड़की से झाँककर बोला—

"अरे, फिर वही 'दलिद्दर' आ गया। भगवान जाने इससे कब पिण्ड छूटे। ऐसा पीछे लगा है जैसे मैं इसके बाप का कर्ज़दार हूँ।"

लेकिन जब वह अभ्यागत, जो एक बीमा-एजेण्ट था, अन्दर आ गया, तो मेरा मित्र उसके स्वागत के लिए खड़ा होकर बोल उठा—

"आइए, आइए भाई साहब! बड़ा सौभाग्य जो आपके दर्शन हो गये! इतने दिन कहाँ थे भाई! नहीं दिखे, इसी का मतलब है, बरकत। चलो, बड़ी ख़ुशी की बात है—" आदि आदि।

मुझे अपने मित्र का यह नाटकीय परिवर्तन अद्भुत लगा। उसके पाखण्ड पर जरा गुस्सा भी आया, पर बाद मे मुझे पता लगा कि इस बीमा-एजेण्ट का सबसे बडा भाई मेरे मित्र का उच्चाधिकारी है, जिसके हाथ मे मेरे दोस्त की तरक्की-तबादला और 'कान्फिन्डेशल-रिकार्ड' था। अपने भाई के 'प्रभाव' का उपयोग करके इस एजेण्ट ने दस-बीस लाख का 'बिजनेस' पीट लिया था। उससे छुट्टी पा सकना किसी के लिए आसान नही था।

मुझे अपने मित्र की हालत समझ मे आने लगी। इस दुनिया में अपने जैसा वह अकेला नही है। ऐसे कई लोग हैं, जिन्हे परिस्थिति के कारण कहिए या अपने स्वभाव की कमजोरी के कारण, अपने मन के विरुद्ध आचरण करना पडता है। दिल मे एक बात होती है, ज़बान पर दूसरी। उमग एक होती है, बर्ताव दूसरा। असली बात एक रहती है, दिखाने की दूसरी।

उसकी हालत ठीक हाथी की तरह होती है जिसके खाने के दॉत और होते हैं और दिखाने के और। दिखाने के दॉत शुभ्र होते हैं, सुन्दर होते हैं, उनसे शोभा की कतिपय वस्तुऍ बनती हैं—कघे, सिन्दूर की डिबियॉ, ताजमहल! पर उन दॉतों से हाथी झाड की एक पत्ती भी नहीं चबा सकता और न रोटी का एक टुकडा। यदि भगवान ने उसे खाने के असली दाँत न दिये होते तो इतने बडे हाथी को भूखों मर जाना पडता। शोभा बढ़ाने वाली वस्तु अलग होती है और असली जीवन देने वाली वस्तु अलग।

मेरा मित्र चाहता तो उस बीमा-एजेन्ट से कह सकता था कि वह काम मे मशगूल है, वह अगले रविवार को या और किसी वक्त मिले और समय पहले से तय कर ले। बीमा करवाना उसे फायदे का जॅचे तो

करवाये, वरना उसे स्पष्ट किन्तु नम्र शब्दों में बता दे कि वह असमर्थ है। पर इसमें से कुछ भी मेरे मित्र ने नहीं किया। नतीजा यह हुआ कि बेमतलब की गप-शप और चाय-पानी में हम लोगों का एक घंटा बर्बाद हो गया और बीमे की नंगी तलवार जो मेरे मित्र के सिर पर लटक रही थी, सो तो थी ही। इन सब बातों का परिणाम तो सबसे ज्यादा उसी को भोगना पड़ा।

आजकल चारों ओर यही बात दिखायी पड़ती है। जीवन की सहजता और स्वाभाविकता मानो लोप हो गयी है और उसके स्थान पर आ गयी है घोर कृत्रिमता! अन्दर एक बात है और बाहर दूसरी। खरी बात सुनाने का दम सब भरते हैं, पर सुनाता कोई नहीं, क्योंकि इसका जो फल भोगना पड़ता है, उसकी तैयारी नहीं होती। इसलिए सारे समाज में एक विचित्र परिस्थिति पैदा हो गयी है।

एक चाय-पार्टी में दो प्रौढ़ महिलाएँ मिलीं। दोनों ने अपने उतरे हुए यौवन को छिपाने के लिए पाउडर और लिपस्टिक आदि का बेहद उपयोग किया था। उसी के अनुसार उनकी वेश-भूषा और आभूषण-शृंगार आदि भी था। मजा यह कि दोनों में से प्रत्येक दूसरी से अपने आप को बढ़-चढ़ कर बताने की कोशिश में थी। उनमें से एक ने कहा—

"कहिए मिसेज खन्ना! आपका यह नेकलेस तो बड़ा खूबसूरत है पर इसके मोती तो शायद नकली हैं... ..'

"जी हाँ, उतने ही नक़ली हैं जितने कि आपके दाँत।" तपाक् से जवाब मिला।

वह स्त्री झेंप गयी क्योंकि उसके दाँतों का सारा-का-सारा सेट दरअसल एकदम नक़ली था। उन स्त्रियों में से एक अपने धन का अभाव छिपाने

की कोशिश कर रही थी तो दूसरी अपने स्वास्थ्य का। और दोनो ही अपनी ढलती उम्र को अभिशाप मान कर उसपर पर्दा डालने का व्यर्थ अभिनय कर रही थी।

यही बात और क्षेत्रों मे भी दिखायी पड़ती है। जिस प्रकार गन्दी बदबूदार बनियाइन के ऊपर रेशम और कोसे के कपड़े पहने जाते हैं, उसी प्रकार बावर्ची के गन्दे बर्तनों में पकाये हुए पदार्थों को अच्छी से अच्छी प्लेटो पर फूलदान वाले मेज पर सजाकर सौन्दर्य का आभास निर्माण किया जाता है! पहली कृति में शरीर के अस्वास्थ्य का मसाला होता है तो दूसरी मे पेट के। व्याधि निर्माण की सामग्री दोनो मे है, पर उस ओर ध्यान देने की हमे फ़ुरसत कहाँ, वृत्ति कहाँ?

रोज़मर्रा के रहन-सहन में भी यही बात है। एक ने सोफा-सेट, कालीन और एक खास ढग के परदे लिये तो औरो के सर पर भी वहीं ख़ब्त सवार हुआ समझिए। यदि ख़रीदने की सामर्थ्य नही है तो किराये पर यह सब फर्नीचर लिया जायगा। एक ने नेहरू की 'आत्मकथा' और चर्चिल के 'युद्ध सस्मरण' खरीदे तो औरों को भी वही अपने बुक-शेल्फ मे रखना चाहिए! फिर परवाह नहीं यदि उसका एक भी पन्ना खोलकर न पढा गया हो। सुनहरी जिल्द की किताब तो दिखाने के लिए होती है, पढ़ने के लिए नही। रेडियो स्टेशन पर गाधी की मूर्ति होना भी फ़ैशन में शुमार है—भले ही उनकी शिक्षा की हम दिन-दहाड़े चौबीसों घटे हत्या करते हों। कई बार हम यह सब जान-बूझ कर नही करते। अनजाने नक़ल करने की हमारी आदत ही हमसे यह सब करा लेती है। हमारे पूर्वज बन्दर थे, इसकी नक़ल करते समय हम क़तई भूल जाते हैं कि हमारा सामर्थ्य या स्वभाव इसके लिए अनुकूल है या नही?

एक वकील साहब थे जिन्होंने बड़ी शोहरत कमायी थी। उनके

दफ़्तर में बड़ी-बड़ी काँच की आलमारियाँ थीं, जिनमें क़ानून की मोटी-मोटी किताबें, सुनहरी जिल्दों में बानरतीब जमा कर रखी गयी थीं। यह बात अलग थी कि इन आलमारियों का ताला कभी नहीं खुलता था। फर्राश आता और रोज ऊपर की धूल झाड़ कर चला जाता। ये किताबें केवल शोभा के लिए थीं। बाद में पता चला कि वे सभी कार्ड-बोर्ड की दिखाऊ किताबें थीं—अन्दर से पोली! जिस तरह हम कागज के फूलों से अपने ड्राइंगरूम की शोभा बढ़ाते हैं उसी तरह वकील साहब उन पुस्तकों से अपने दफ़्तर की शोभा बढ़ाते थे। देहाती मुवक्किलों पर रोब गाँठने का यह एक अच्छा तरीक़ा था।

सभा-सम्मेलनों में भी यही बात दिखायी पड़ती है। परिषद् के सभापति-पद के लिए, भले ही एक मामूली आदमी को चुनना पड़े क्योंकि आपकी फेहरिस्त के पहले चार आदमी किसी-न-किसी कारण से इन्कार कर चुके हैं, पर आप को अपने भाषण में तो कुछ इसी प्रकार कहना होगा—

"हमारे लिए यह परम सौभाग्य का विषय है कि आज की परिषद के लिए प्रसिद्ध देशभक्त और जनसेवा व्रती, धुरन्धर वक्ता और प्रकाण्ड पण्डित श्री अमुक जी पधारे हैं, जिन्हें पाने के लिए हम गत वर्ष से प्रयत्नशील थे—इत्यादि इत्यादि चूँकि वे आज आपके उत्सव के सभापति हैं, आपके लिए वे सर्वगुण-सम्पन्न हैं, सम्भ्रान्त महिलाएँ उनके स्वागत में गीत गायेंगी, उन्हें फूल-मालाएँ पहनायी जायेंगी, और चन्दा काफी इकट्ठा हो गया हो तो एक मानपत्र भी अर्पित किया जायगा। कल शायद आप इन्हें स्वार्थी, कालाबाज़ारी, रिश्वतख़ोर और नकली देशभक्त कहकर गाली देते थे, और सम्भवतः आज का समारोह हो जाने के बाद फिर वैसा ही करेंगे—पर इस समय नहीं।

राजनैतिक जीवन, साहित्य क्षेत्र, सामाजिक जीवन मे—हर जगह यही प्रवृत्ति दिखायी देती है—असली बात को दोयम स्थान देकर दिखाने के दाँतो को सामने पेश करने की। शिष्टाचार के नाम पर कई असत्य और अतिरजित बातो को प्रश्रय दिया जाता है। नक़ली और कृत्रिम मूल्यो का महत्व बढ गया है। किसी ने दो-एक कविताएँ लिखी तो कवि-सम्राट हो गया, तीन-चार कहानियाँ लिखी तो प्रतिभाशाली कथाकार हो गये। एकाध पुस्तक छप गयी तो फिर पूछना ही क्या है—साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष पद के लिए 'नये रक्त' (फ्रेश-ब्लड) की माँग होने लगी। एक बार धोखे से जेल चले गये तो एसेम्बली की मेम्बरी चाहिए ही, क्योंकि आपने कारावास की कठोर-काली दीवारों के अन्दर यम-यन्त्रणाएँ सहन की हैं। इन सब बातो मे हम भूल जाते मै कि इनमे असली तथ्य कितना है और दिखावा तथा आडम्बर कितना !

विद्यार्थियो का ही हाल देख लीजिए। साल भर सिनेमा और खेल-कूद से फ़ुरसत नही मिलती, इसलिए आख़िरी महीने मे 'कुंजियाँ' और 'नोट्स' के सहारे अटलक-पच्चू पास होने की जी-जान से कोशिश होती है। परीक्षा की अगलो रात को रट डाला, परीक्षा-पत्र मे दूसरे दिन वह उगल डाला, और फिर बाद मे कोरे-के-कोरे बने बैठे हैं। किस्मत अच्छी रही तो पास भी हो जाते हैं, डिगरी भी हासिल हो जाती है, पर असली ज्ञान के नाम पर सफाचट ! यहाँ भी ऊपर की तस्वीर अलग। यह बात सभी विद्यार्थियो पर लागू नहीं होती पर इस प्रकार के काफी छात्र आप को मिलेंगे।

इस प्रवृत्ति के कारण होता यह है कि एक प्रकार की कृत्रिम, छिछोर जीवन प्रणाली हमारे समाज में घर करती जा रही है। बाहरी दिखावे का प्रलोभन ज़्यादा है, आन्तरिक तथ्य का कम है। शादी-ब्याह करना हो तो भले ही कर्ज लेना पड़े, पर शामियाना, आतिशबाजी, पगत-पार्टी,

बैण्ड बाजे में कोई कमी नहीं होगी, क्योंकि पुराना नाम जो रखना है। बाद में उसकी अदायगी में चाहे जायदाद चली जाय, पर इस वक्त तो कुँवर साहब की मूँछें इत्र में सनी उँगलियों ही ऐंठेंगी। शायद इन्हीं लोगों के लिए कहा गया है—"ऋण कृत्वा घृत पिबेत्!" यानी कर्ज लेना पड़े तो हर्ज नहीं, पर घी खाने से मत चूको।

कल कुछ भी हो, आज तो वाहवाही में कोई कमी नहीं पड़नी चाहिए। लोगों को पाँच-पच्चीस बरस याद करनी पड़े कि शादी हुई तो कुँवर साहब के यहाँ की।

यह वाहवाही लूटने की हविश, कृत्रिम और नकली साधनों से सुख पाने की वृत्ति ही हमारे सारे दुखों का कारण है। यह यथार्थ में है तो मृगजल। उसके पीछे कितना भी भागो, उसमें तृप्ति नहीं, पानी का नाम नहीं। भाग्य में लिखा है केवल तड़पते-तड़पते मर जाना। पर पानी की आशा में बदहवास भागने में जो सुख है, वही उसका अपना है, और कुछ उसके हाथ नहीं लगना है।

इसी तरह का हाल हम सब का है। कस्तूरी की खुशबू से पागल होकर कस्तूरी-मृग उसकी तलाश में भागा-भागा फिरता है—और है वह उसी के पास, उसी की नाभि में, पर अपने अज्ञान के कारण उसे देख नहीं पाता। किसी-न-किसी सुख के पीछे हम भागते रहते हैं। कोई डिगरी के पीछे पागल है तो कोई तरक्की के पीछे। कोई सोचता है कि मेरा मकान बन जाय या मुझे मोटर मिल जाय तो मैं सुखी हो जाऊँ। कोई कहता है, रेशम या सैटिन के कपड़े खरीद सकूँ तो फिर मुझे सतोष होगा। दूसरे शब्दों में अपना सारा सुख हम बाह्य परिस्थिति पर अवलम्बित रख छोड़ते हैं। समुचित महत्त्वाकाङ्क्षा होना बुरा नहीं है, पर उस महत्त्वाकांक्षा का रूप कोई आदर्श या आत्मोन्नति का तत्व न होकर भौतिक

और क्षणभगुर वस्तुएँ हो जायँ, तो उससे सुख की बजाय दुख होता है। कोई तुलना ही करना चाहे तो इसका कोई अन्त नहीं। मकान बनवाने की इच्छा हो तो ऐसा कभी न बनवा सकेगा जो सबसे बढ़-चढ़ कर हो। मोटर मे भी कई प्रकार के मॉडल होते हैं—तो हम कहाँ जाकर रुके? कही-न-कही तो उसे सीमा बाँधनी ही होगी। और इस सीमा के आगे वह न जा सका, इसी का उसे दुख होगा।

इसके विपरीत यदि हम यह सोच ले कि हमारी क़ीमत हमारे पास क्या है, इसपर अवलम्बित नही है; पर हम क्या हैं इस पर है—तो बहुत सा झगडा मिट सकता है। मनुष्य सगमरमर के महल मे रहे, पर उसके दिमाग़ और हृदय मे पत्थर भरा हो और उसमे मानवता का निवास न हो तो फिर वह महल उसके लिए क्या कब्र जैसा नहीं है? मनुष्य की सारी सम्पत्ति और सौन्दर्य है उसकी मनुष्यता में—मानवता में। बाह्य और कृत्रिम आडम्बरों मे तो उसका दम घुटने लगता है। इन आडम्बरों के पीछे की दौड यानी निन्यानबे का फेर! उससे कभी मुक्ति नहीं, छुट्टी नहीं, शाति नहीं और उसकी होड मे कभी जीत नही। रॉक फेलर, हेनरी फोर्ड या हैदराबाद के निजाम के पास असीम सम्पत्ति के बाद भी क्या सुख और शान्ति है? यह तो उन्ही से पूछा जा सकता है।

इसलिए हम यदि अपने सुख-साधनो और ध्येयो की दिशा बदल दे तो पायेंगे कि कस्तूरी की अमूल्य सम्पत्ति हमारे पास ही है, हमें उसके लिए दर-दर भटकने की जरूरत नही। यदि हम समझ ले कि हमारा सौन्दर्य स्नो और पाउडर में नहीं है, शरीर के स्वास्थ्य में है; हमारी योग्यता बुद्धि के विलास में नहीं, भावनाओं के वैभव में है, जिससे हम जीवन के सह-यात्रियों के साथ सहानुभूति और सहृदयता का बर्ताव कर सके, हमारा सामाजिक बड़प्पन धन और बाहरी दिखावे में नहीं है, वरन् चरित्र की सादगी और सज्जनता में है, हमारे सुख और आनन्द की कुंजी

सिनेमा और नाटकों में नही है, हमारे मन के समाधान और शान्ति में है, तो हम देखेंगे कि हमारे जीवन मे क्रान्ति ही हो गयी है। जिस व्यक्ति के घर में पति और पत्नी का पारस्परिक विश्वास और प्रीति हो, बच्चे किलकारियाँ मार रहे हों, समाधान और सन्तोष का मगल दीप जलता हो, जिन्हे बाहरी दुनिया की कृत्रिम हाय-हाय दुख न पहुँचाती हो, जो अपने पड़ोसी के साथ भाई-चारे का सम्बन्ध निभाते हों, जिन्हें—जो वे वास्तव मे हैं—उससे अलग अपना स्वरूप दुनिया के सामने पेश करने की हविश नही, जो सूरदास की तरह मस्त होकर गा उठते हैं—"जैसे राखहु वैसेहि रहहुँ" उनके लिए अपना घर ही स्वर्ग है, भले ही उसमें टूटा फर्नीचर हो, खाने के लिए मेज और तश्तरियाँ न हों, कमख्वाब के पर्दे और क़ालीन न हों। एक झोपडी मे रहकर और लँगोटी लगाकर भी गान्धी ने इतना विश्वव्यापी वैभव पाया—वह कोई जादू या चमत्कार नहीं था। उसके पीछे एक तत्त्व था, अत्यन्त सीधा-सादा। वह था—अपने आप के प्रति सच्चे रहो। जैसे हो वैसे ही दुनिया के सामने पेश होओ। दिखावा और आडम्बर असत्य है, इसीलिए वह पाप है। उससे बचो। गाधी जी ने अपनी शिष्या मीरा बेन को एक पत्र मे लिखा—

"मुझे सबसे ज्यादा चिन्ता इसकी है कि तुम जैसी नहीं हो वैसी दिखाने की कोशिश न करो।"

दो हजार वर्ष पहले भी सुकरात ने यही शिक्षा दी थी—'अपने आप को जानो' और 'अपने प्रति सच्चे रहो।' भले हो तो, बुरे हो तो—जो हो सो रहो। दूसरों का अन्धानुकरण मत करो, नहीं तो हालत उस बन्दर जैसी हो जायगी जो एक आदमी की हजामत की नक़ल करते-करते उस्तरे से अपना गला ही काट बैठा।

दूर के ढोल सुहावने तो होते ही हैं, पर उनके अन्दर पोल भी होती है। उससे बचने के लिए यही अभीष्ट है कि जब कभी हाथी के

दर्शन हो जायँ तो दूर से उन्हें सादर प्रणाम करो और कहो कि जय महा गजराज की! आपके दाँत दिखने मे तो बहुत सुन्दर हैं, और हो सके तो हम उसकी एकाध कघी या बटन भी अपने पास रख लेंगे, लेकिन इसके बाद वे रहे आप ही को मुबारक! भगवान के लिए हमे उनके पीछे चलने का आदर्श न सिखाइए।

आनन्द की फुलझड़ियाँ



एक बूढ़ा आदमी, जिसके बाल सफेद हो गये थे, जमीन खोद रहा था। एक नौजवान ने, जो वहाँ से गुजर रहा था, उस बुजुर्ग को परिश्रम करते देख पूछा, "बाबा, यह क्या कर रहे हो?"

"आम की गुठलियाँ बो रहा हूँ।" बूढ़े ने कहा।

"इस उम्र में? इसके फल कब खाओगे, बाबा?"

"मैं फल नहीं खा सकता तो क्या हुआ बेटा, तुम तो खा सकोगे! मेरे-तुम्हारे नाती-पोते तो खायेंगे? देखो, वह अमराई मेरे दादा ने लगायी थी तो उसके फल मैंने खाये। इसके फल मेरे नाती-पोते खायेंगे।"

हमारे पूर्वजों की इसी मनोवृत्ति का फल है जो हम जगह-जगह अमराई देखते हैं। अपने स्वार्थी जीवन से ऊँचे उठकर दूसरों को सुख और आनन्द पहुँचाने का यह कैसा सुन्दर स्वभाव है। निस्सदेह उस बूढ़े का जीवन एक परम सात्विक आनन्द की दीप्ति से जगमगा उठा होगा और उसकी मृत्यु भी बहुत शात और कष्टहीन हुई होगी। हम लोग सभी यदि

इस वृत्ति को हृदयगम कर ले तो इस दुनिया मे अधिक आनन्द की सृष्टि हो सकेगी, इसमे कोई शक नही। हमारा जीवन सच्चे सुख के प्रकाश से आलोकित हो उठेगा।

एक वृद्ध सम्भ्रात महिला रेलगाडी से सफर कर रही थी। वे खिड़की के पास बैठकर, बीच-बीच में, अपनी मुट्ठी से कुछ चीज बाहर फेकती जा रही थीं। एक सहयात्री ने,जो यह देख रहा था, पूछा, "यह आप क्या कर रही हैं?" उस महिला ने जबाव दिया, "ये सुन्दर फलो और फूलो के बीज हैं। मै इन्हे इस उम्मीद से फेक रही हूॅ कि इनमे से कुछ भी अगर जड़ पकड़ लेगे तो लोगो का इससे कुछ फायदा होगा। पता नहीं मैं इस रास्ते से फिर गुजरूॅ या न गुजरूॅ, इसलिए क्यो न मै इस सन्धि का उपयोग कर लूॅ?"

— आजकल के जमाने की रुपये और शिलिंग वाली स्वार्थी तहज़ीब के बावजूद दुनिया मे ऐसे व्यक्ति हैं, इसीलिए तो दुनिया रहने लायक़ बनी है। भौतिकवाद और भोगविलास की हाय-हाय से परे रहने वाले निःस्वार्थी और आदर्शप्रिय लोग न होते तो हम कबके रसातल को पहुॅच गये होते। ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इस जमाने के अन्धकार मे भी आनन्द की फुलझड़ियो से प्रकाश फैलाते रहते हैं, जिन्हे देखकर हम मानव जाति के भविष्य पर श्रद्धा और विश्वास कर सकते हैं।

अमरीका के प्रेजीडेण्ट बेंजमिन फ्रैंकलीन के बारे में एक सुन्दर बात सुनी जाती है—उनके पास एक ग़रीब विद्यार्थी मदद माॅगने के लिए आया। उसे उन्होने २० डालर दिये। वे तो यह छोटी सी रक़म देकर भूल गये, लेकिन वह विद्यार्थी इस उपकार को न भूला। जब उसके दिन फिरे तब वह २० डालर लौटाने के लिए फ्रैकलीन के पास गया। फ्रैक-लीन ने कहा, "मुझे याद तो नहीं है कि मैने यह रक़म आपको कब दी थी? लेकिन ख़ैर, आप इसे अपने ही पास रखिए और जब आपके पास

कोई ऐसा ही ज़रूरतमन्द आये तो उसे यह दे दीजिए।" उस व्यक्ति ने ऐसा ही किया। कहते हैं, आज भी वह रकम अमरीका में जरूरतमन्दों के हाथों में घूम रही है। कितनी अच्छी बात है!

रुपया कमाना सबके हाथ की बात नहीं है, न शिक्षा पाकर डिगरियाँ हासिल करना सब की पहुँच में है। लेकिन हम सब चाहे तो आनन्द और सुख की रश्मियाँ बिखेर कर दुनिया के दुख को कुछ-न-कुछ हलका जरूर कर सकते हैं, और जिन लोगों से हमारा सम्बन्ध है, उनके जीवन में कुछ-न-कुछ प्रसन्नता तो जरूर ही ला सकते हैं। लड़ाई, गरीबी, मँहगाई और ग़ुलामी से हमारा जीवन तो वैसे ही मुसीबतों से भरा पड़ा है। फिर भी हम उसमें कुछ सुख और आह्लाद फैलाकर जिन्दगी की लड़ाई को सहने लायक और जीवन को जीने लायक तो बना ही सकते हैं—बशर्ते कि हम उसका जरा ख़याल रखें। काम बिलकुल मुश्किल नहीं है। हमें सिर्फ़ ज़रा ध्यान देने की जरूरत है और उसका नतीजा? वह तो हम फौरन देख सकेंगे। अगर जादू की लकड़ी की तरह असर न हुआ तो फिर कहिए।

अपने काम से एक बार बम्बई जा रहा था। लड़ाई के कारण कम्पनी ने गाड़ियों की संख्या कम कर दी थी इसलिए भीड़ ख़ूब रहती थी। टिकट लेने के लिए बाक़ायदा छीना-झपटी होती थी। खिड़की के पास भीड़ लगी हुई थी। टिकट बाबू बेचारे परेशानी में टिकट बनाते जाते थे लेकिन उस छोटी-सी खिड़की में न जाने कितने हाथ घुस रहे थ और न जाने कितनी आवाजें आ रही थी—'दो टिकट अमरावती!' 'बाबू, साढे तीन आकोला, जल्दी देना। अरे गाड़ी तो छूटी जा रही है।', 'बाबू नासिक का एक टिकट……'

"ठहरो, ठहरो।" टिकट बाबू कहते जा रहे थे और पसीना पोछते-

पोछते एक-एक आदमी को निपटाते जा रहे थे। और उधर गाड़ी आने का वक्त हो रहा था। लोगों का धीरज छूटने लगा। तानेकशी शुरू हुई—'अरे भैया, दच्छिणा चढ़ाओ तब जल्दी टिकट मिलेगा।' एक बोले। 'बडी 'इनएफीशियेंसी' (अव्यवस्था) है—'एक सूट पहने हुए साहब ने फर्माया। 'हम स्टेशनमास्टर से शिकायत करेंगे,' तीसरे ने धमकाया।

लेकिन टिकट बाबू इन बातो को सुना-अनसुना करके अपना काम करते रहे। कभी-कभी नाराज हो जाते तो अपनी नाराजी—जो ताने कस रहे थे, उन्हे टिकट देर से देकर निकालने की कोशिश करने लगे। मै पास ही खडा था, टिकट लेना बाकी ही था। मैंने अपने पास के मुसाफिरो से धीरे से कहा, "जरा ठहरिए भाई साहब! देखिए बेचारा बाबू कितना फँस रहा है। इस लडाई ने रेलवे कर्मचारियो पर तो बेहद काम का बोझा डाल दिया है, जिसमे छोटे-छोटे क्लर्कों का तो मरण है।"

"हाँ, हाँ, ठीक बात तो है।" एक खद्दरधारी सज्जन बोल उठे, "जरा धीरज से काम लो भाई, सबको टिकट मिल जायगा।"

उस गरीब टिकटबाबू पर इन शब्दो का अजीब असर पडा। "कुछ पूछिए मत बाबू साहब।" उसने सिर पर से टोपी उतारते हुए कहा, "ऐसी पिसायी हो रही है कि हिसाब नही। कम्पनी से स्टाफ बढाने के लिए कहा तो 'न' मे जवाब आया। मॅहगाई-भत्ते के लिए दरख़्वास्त दी तो कहते हैं—विचार करेंगे। बडी मुसीबत है। ख़ैर! आपको कहाँ जाना है बाबू साहब?"

मुझे उसने फौरन टिकट दे दिया। और उसी हो-हल्ले मे पूछा, "आप यहीं रहते हैं?"

मैने कहा, "हाँ।"

"लौटकर जरूर दर्शन दीजिएगा।" उसने वहीं से नमस्कार करते हुए कहा और उत्साह से खटाखट टिकट काट कर भीड़ छाँटना शुरू कर दिया।

आनन्द की फुलझड़ियाँ

छोटी-सी घटना है, लेकिन एक सबक सिखाती है। बात तो सच थी कि टिकट बाबू का काम बहुत बढ़ गया था। युद्ध के कारण सभी महकमों का यही हाल है। जिन्होंने ताने कसे उनके खिलाफ उसका दिल कड़ा हो गया। मैंने सहानुभूति दर्शायी तो उसका हृदय मोम-सा हो गया और उसने केवल मुझे ही नहीं बल्कि दूसरों को भी जल्दी-जल्दी टिकट देना शुरू किया। सहानुभूति के उन थोड़े से शब्दों ने उसे नयी ताक़त दी।

मेरे शब्द महज उसे ख़ुश करने के लिए नहीं कहे गये थे. वे सच्चे हृदय से निकले थे और वह बाबू भी उस सच्चाई को समझ गया। उसपर उनका तुरन्त असर हुआ। हो सकता है. उसके मन को उन शब्दों से कुछ सान्त्वना मिली हो। और मुझे क्या क़ीमत देनी पड़ी? कुछ नहीं।

एक बार मैं बैंक में अपना हिसाब खोलने के लिए गया। क्लर्क मुझसे सवाल पूछता जाता था और पास बुक में दर्ज करता जाता था। मैंने देखा, उसके अक्षर दर असल बहुत अच्छे हैं। मैंने फौरन कहा, "जरा पास-बुक दिखाइए तो, आपकी लिपि बहुत सुन्दर दीखती है।" और उसे नजदीक से देखकर मैंने कुछ मन-ही-मन और कुछ जोर से कहा, "ब्यूटिफुल!" उस क्लर्क का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। बैंक के रूखे आँकड़ों से माथापच्ची करते-करते उसका तमाम दिन बीतता है। काम के उन नीरस घण्टों में उसे आनन्द का ऐसा अनुभव नहीं हुआ था। कुछ अभिमान से और कुछ विनय से वह धीरे से बोला, "जी हाँ, मैनेजर साहब ने भी इस बारे में मेरी तारीफ की है। हाई स्कूल में मुझे हस्तलिपि के लिए पहला पारितोषिक भी मिला था।"

"कोई आश्चर्य की बात नहीं," मैंने कहा।

उसका वह आनन्द से खिला हुआ चेहरा अब भी मेरी आँखों के

सामने है। हो सकता है कि उस दिन शाम को उसने अपने दोस्तों से इस छोटी-सी घटना का जिक्र किया हो या अपनी पत्नी से यह बात अभिमान के साथ कही हो। उसमे एक गुण था। उसकी सच्चे मन से दाद दी गयी, इसलिए वह ख़ुश हो गया, शायद दूसरे क्लर्क उसके इस गुण के कारण उससे जलते हो और उन्होंने कभी प्रशसा का एक शब्द भी न कहा हो। लेकिन आज तो उसके गुण की क़द्र की गयी।

मुझे भी बडी प्रसन्नता हुई कि मै उन थोडे से शब्दो द्वारा उस क्लर्क के जीवन मे किचितमात्र भी क्यो न हो, सुख तो पहुँचा सका।

ऐसे अवसर हमे हर दिन, हर घड़ी मिल सकते हैं। और जरा बारीकी से हम सोचे तो पायेगे कि दूसरो को सुख देने की हमारी शक्ति अपरिमित है, बशर्ते कि हम उसके बारे मे जागरूक रहे।

इससे फायदा?

क्या हम इतने स्वार्थी बने रहेगे कि बगैर फायदे के कोई काम न करे। यदि हमारी यही मनोवृत्ति रही तो लोग भी हमसे फायदा निकालने के सिवा और किसी कारण ताल्लुक नही रखेगे।

और इसमे फायदा क्यो नहीं है? क्या यह छोटी बात है कि मै अपने एक भाई के जीवन मे आह्लाद के कुछ क्षण दे सका? यही वृत्ति यदि मैं अपने स्वभाव में पूरी तरह उतार सका तो न जाने कितने लोगो की सेवा मुझसे हो सकेगी! और इस सत्प्रवृत्ति के कारण क्या लोग भी मुझे सुख और आनन्द पहुँचाने का यत्न न करेगे?

सीताफल के बीज बोने से सीताफल ही मिलेगा। धतूरे के बीज बोने से कभी अजीर नहीं मिल सकते। दूसरो के सुख की हम चिन्ता करे तो अपने आप ही हमें सुख मिलेगा। दुनिया में हमेशा जैसे का तैसा मिलता है। 'झॉई' का पाठ हम सब ने बचपन में पढा होगा। गड़रिये का बालक जब तक अच्छे शब्द बोलता रहा तब तक झॉई ने भी ठीक उत्तर

दिये। लेकिन जब उसने गाली देना शुरू की तो झाँई ने भी गाली दी। और जब बालक गुस्से मे आकर कहने लगा कि 'मैं तुझे खा डालूँगा' तो झाँई ने भी उतने ही गुस्से से जवाब दिया कि 'मै तुझे खा डालूँगा' जिसे सुनकर बालक घबड़ा गया और डर मे रोने लगा। यही बात जीवन मे भी लागू होती है।

हजरत ईसा ने इसी तत्व को सीधे-सादे किन्तु अमर शब्दों मे गूंथ दिया है—'Do unto others as you would have others do unto you!' (दूसरों के प्रति वही बर्ताव करो जैसे बर्ताव की तुम खुद अपेक्षा करते हो।)

एक बात का जरूर ध्यान रहे। गुणो की क़द्र करने का अर्थ चापलूसी करना नहीं है। झूठी प्रशसा से उलटा ही असर होगा। सहानुभूति और गुण-ग्राहकता की तह मे सचाई होनी चाहिए, हृदय की भावना होनी चाहिए, नही तो सब गुड मिट्टी हो जायगा।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक प्रोफेसर विलियम जेम्स का कथन है कि मनुष्य-स्वभाव की सबसे गहरी मूल प्रवृत्ति अपनी सच्ची प्रशसा सुनने की होती है। उस बैंक-क्लर्क की लिपि की प्रशसा मै कर सका इसके लिए वह खुश हो उठा। यह मनुष्य स्वभाव है।

प्रत्येक मनुष्य मे कोई-न-कोई गुण रहता ही है। घोर पापी से पापी भी क्यो न हो, उसमे भी अच्छाई रहती है। ठीक उसी तरह जैसे कि बड़े-से-बड़े संत मे भी कुछ दोष होते हैं। बस आप उस अच्छाई के ततु को जगा दीजिए, उस व्यक्ति के हृदय की कुंजी आपके हाथ लग जायगी। इमर्सन का कथन है—"मैं जिस आदमी से मिलता हूँ वह किसी-न-किसी बाबत में मुझसे बड़ा है। इस तरह मै उससे कुछ-न-कुछ सीखता ही हूँ।"

सच्ची सहानुभूति और ईमानदार गुण-ग्राहकता से बड़े-से-बड़े काम

आसानी से हो सकता है। कभी कभी तो इनसे जीवन मे उथल-पुथल मचाने वाली क्रान्तिकारी घटनाएँ हो जाती हैं। इटर्नस सिटी के अंग्रेज लेखक सर हॉलकेन के जीवन मे ऐसी ही अद्भुत घटना हुई थी। वह एक लुहार का लडका था। वह इतना मशहूर और सफल लेखक हुआ जिसने मरने समय २५ लाख डालर की जायदाद छोडी। बचपन मे उसे कविता से बडा शौक था। उसे दाँते गेब्रियल रोजैटी की कविताएँ बहुत पसन्द आयी, यहाँ तक कि उसने उन कविताओ की प्रशसा मे एक सुन्दर भाषण भी लिख डाला। वे कविताएँ उसके दिल को छू गयी थी। भाषण की एक नकल उसने रोजैटी के पास भेज दी। रोजैटी उसे पढकर निहायत खुश हुआ। उसने शायद सोचा होगा—इस लडके मे प्रतिभा है, तभी तो वह मेरी कविताओ की इस तरह दाद दे सकता है। रोजैटी ने उसे पत्र द्वारा बुलवाकर अपना सेक्रेट्री बना लिया। उसी समय से हॉलकेन का जीवन-क्रम ही बदल गया। रोजैटी के सेक्रेट्री की हैसियत से उसका सम्बन्ध साहित्यिक कलाकारो से होने लगा जिनकी प्रेरणा से वह स्वय एक महान लेखक बन गया। हृदय से निकली हुई सच्ची प्रशसा का परिणाम ऐसा ही विचित्र होता है।

समाज मे हमे अक्सर दो छोर की प्रवृत्तियाँ दिखायी देती हैं। एक तो वे जो ठकुरसुहाती करते रहते हैं, जिसकी तह मे तनिक भी सचाई नही रहती। ऐसे आदमियो के प्रति धीरे-धीरे घृणा पैदा होने लगती है। दूसरे वे हैं, जो न जाने अपने शब्दो को सोने या हीरे के मोल के समझते हैं और जो एक शब्द से भी दूसरे के प्रति गुणग्राहकता या प्रशसा के भाव नहीं दर्शाते। हाँ, दूसरो की कमजोरियाँ और ग़लतियाँ तो वे बड़े चाव से बतलायेंगे, लेकिन यदि उसी व्यक्ति ने कोई अच्छा काम किया तो फिर उनकी जबान से तारीफ का एक शब्द भी न निकलेगा। भाई, अगर किसी के दोष बतलाने मे आप को इतना मजा

आता है तो उस बेचारे के गुणों को—वे कुछ तो होंगे ही—कद्र करना भी तो आपकी जिम्मेदारी है। तभी तो वह समझेगा कि आप उसके सच्चे हितैषी हैं। हम अपने ही जीवन पर जरा नजर डालें। न जाने कितनी बार हमने अपनी पत्नी या पुत्र या छोटे भाई को उनकी ग़लतियों के लिए डाँटा होगा और उनके दिल को दुखाया होगा। लेकिन जो उत्साह हम डाँट लगाने में दिखाते हैं, वह हम उनके गुणों और अच्छे कामों की प्रशंसा करने में कदापि नहीं दिखाते। जहाँ हम आनन्द की फुलझड़ियाँ आलोकित कर सकते हैं, वहाँ हम दुख और कटुता का ग्रहण लगा देते हैं और यह सिर्फ इसीलिए कि हम उनसे उम्र में बड़े हैं। बड़प्पन के साथ-ही-साथ कुछ उत्तरदायित्व भी हमारे कंधों पर आता है, यह हम भूल जाते हैं।

मालिक और नौकरों के व्यवहार में तो यह प्रवृत्ति और भी भीषण स्वरूप ले लेती है और इसीलिए घर में दिन भर चक-चक होती रहती है। यदि जरा चतुराई से काम लें और अपने आस-पास के लोगों को उनके अच्छे कामों के लिए शाबाशी दें तो वे दूने उत्साह से काम करने लगेंगे। काम भी अधिक अच्छा होने लगेगा और घर का वातावरण भी आनन्दमय हो जायगा।

कुछ लोग तो दूसरों को सुख देने में बड़े ही सिद्धहस्त होते हैं। उनका बर्ताव दिखाने का नहीं होता वरन् सच्चे हृदय से होता है। वे हर जगह, हर समाज में, हर समय लोकप्रिय होते हैं और कमरे में क़दम रखते ही आनन्द और क़हक़हे की ख़ैरात मचा देते हैं। अलीबाबा और चालीस चोर की कहानी के मुताबिक उनके हाथ में 'सम-सम खुल' की तिलिस्मी कुंजी होती है और उनके सामने सारे दरवाजे खुल जाते हैं। वे न केवल दूसरों को सुख पहुँचाने में ही क़ामयाब होते हैं बल्कि खुद का सुख भी किसी भी बुरी-से-बुरी परिस्थिति में खोज निकालते हैं। विश्व का सारा आनन्द

मानो उन्ही के लिए जुटाया गया है। उन्हें जीवन-कला मालूम है और उन्हें कभी दुख और निराशा नही भुगतनी पडती।

सिडने स्मिथ का शरीर बुढापे मे रोग-ग्रस्त और जर्जर हो गया था। फिर भी उसने अपने मित्र को एक पत्र लिखा—"मुझे गठिया, दमा और अन्य सात रोगो की शिकायत है लेकिन बाकी मै बड़े मजे मे हूँ।"

गोल्डस्मिथ ने "सिटीजन आफ द वर्ल्ड" मे एक मजेदार घटना का जिक्र किया है। एक धनिक हीरे-जवाहरातो तथा क़ीमती वस्त्र और अलंकारो से आभूषित होकर भीड मे से गुजर रहा था। एक आदमी ने आगे बढकर उस धनिक को उसके अलकारो के लिए धन्यवाद दिया। धनिक आश्चर्यचकित होकर पूछने लगा—"इसका क्या मतलब ? मैने तो तुम्हे कोई हीरा या जवाहरात दिया नहीं है।"

"नहीं, लेकिन आपने उन्हे देखने का मौक़ा तो दिया। आप ख़ुद भी इससे ज्यादा क्या कर सकते हैं ? आप मे और मुझमे कोई फर्क नहीं, सिवा इसके कि आपको उनकी हिफाजत की भी फ़िक्र करनी पडती है और मै इस चिन्ता से बरी हूँ।"

आपने शायद मधु-मक्खियो को शहद इकट्ठा करते हुए देखा होगा तो पाया होगा कि वे गन्दे-से-गन्दे और कुरूप-से-कुरूप स्थानो मे से भी शहद एकत्रित करती जाती हैं। इसी प्रकार यदि हम भी बुरी-से-बुरी, विपरीत परिस्थिति में भी सुख ढूँढ कर निकाल सके तो हमारे जीवन मे सदैव आनन्द का आलोक जगमगाता रहेगा, जिसके कारण न केवल हमारा ही जीवन बल्कि हमारे आस-पास के लोगो का जीवन और वातावरण मधुमय हो उठेगा।

मै उपन्यास नही पढता

जेल में मेरे साथ एक बुजुर्ग थे, जिनका राष्ट्रीय जीवन मे बहुत ऊँचा स्थान है। वे अक्सर गम्भीर किताबे—जैसे उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र, षट्-दर्शन पढ़ने या विवेकानन्द-रामतीर्थ ऐसे लेखकों की कृतियाँ पढ़ते थे। एक बार मेरे एक मित्र का किताबों का पार्सल आया जिसमें फिनलैण्ड के नौबल पुरस्कार विजेता एफ० इ० सिलैन्पा की 'फालन एस्लीप व्हाइल यग' (Fallan asleep while young) तथा पर्ल बक की 'गुड अर्थ' (Good Earth) पुस्तकें थीं। उन बुजुर्ग ने पुस्तकें पढने के लिए माँगीं, लेकिन जब उन्हे मालूम हुआ कि वे उपन्यास हैं तो तुरन्त लौटाते हुए कहा, "मै उपन्यास नहीं पढ़ता।" सिर्फ इतना ही नहीं, उन्होंने अपने पुत्र को जो कालेज में पढ़ता था, पत्र लिखा कि तुम्हें उपन्यास पढ़ने में वक्त बर्बाद नहीं करना चाहिए।

यह सज्जन वृद्ध हैं, आदरणीय हैं। ज्ञान और अनुभव के लिहाज से तो मेरी योग्यता उनके चरणों के पास बैठने की नहीं है। फिर भी मेरी

नम्र राय मे उपन्यासो के बारे मे उनका यह पूर्वग्रह ठीक नहीं है। वे साहित्य के एक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली अग के प्रति घोर अन्याय करते हैं।

लेकिन उनके इस एकागी मत के पक्ष मे सबल कारण हैं और उनसे इनकार नही किया जा सकता। आज के उपन्यास साहित्य मे अच्छे उपन्यासों की अपेक्षा बुरे उपन्यासो की सख्या कहीं ज्यादा है। कुछ तो नितान्त कुरुचि पूर्ण और संस्कारहीन हैं। 'पेरिस की सुन्दरी', 'मायाविनी' या ऐसे ही विलासिता को उभाडने वाले तथा विकृत मनोवृत्ति का पोषण करने वाले या जासूसी-तिलस्मी उपन्यास, किसका क्या भला कर सकते हैं, यह कहना कठिन है। एक हलके दर्जे का मनोरंजन उनसे होता है, लेकिन उसके साथ ही जो नैतिक अधः पतन होता है, वह तो ऐसी भारी हानि है, जिससे तरुणो की पीढी-की-पीढी बर्बाद हो सकती है। लेखक ऐसे उपन्यासो की रचना इसलिए करते हैं कि उनसे आमदनी अच्छी होती है, और प्रकाशक भी उनके आर्थिक पक्ष के लाभ को ध्यान में रखकर प्रकाशित करते हैं। इस हद तक तो मै उन बुजुर्ग महाशय से पूरी तरह सहमत हूँ। गन्दे साहित्य जैसा भयंकर जहर और कोई नही हो सकता।

लेकिन इस कारण से समस्त उपन्यासों को गन्दा समझ कर झिड़क देना नासमझी है। अच्छे और बुरे दोनों तरह के उपन्यास मिल ही जाते हैं। चूँकि कुछ उपन्यास ख़राब होते हैं। इसलिए सभी उपन्यासो के खिलाफ़ जेहाद उठाना उचित नही है। मानव समाज में चोर, डाकू और ख़ूनी होते हैं इसलिए मनुष्य मात्र से द्रोह करना कहाँ तक न्याय-संगत है? हमे वाजिब और ग़ैर-वाजिब के बीच में फर्क तो करना ही होगा।

साहित्य के सब अंगों में उपन्यास जैसा सर्वप्रिय कोई अग नहीं है। उसका कारण यह है कि मनुष्य के मन में कहानी के प्रति सदैव घोर

आकर्षण रहा है। हम बचपन मे ही नानी की गोद मे बैठकर 'कहानी सुनाओ' की रट लगाकर उस बेचारी बुढ़िया की नाक मे दम कर देते है। और जब कहानी का राजा, दैत्य को मारकर राजकुमारी की रक्षा कर लेता है और बाद मे उससे विवाह कर लेता है तो हम ताली पीटकर चिल्ला उठते हैं कि बड़ी अच्छी कहानी है। रामायण की लोकप्रियता की तह मे केवल उसकी नैतिक शिक्षा ही नही है, तुलसीदास जी का वर्णन करने का जो सुरस और लालित्यपूर्ण ढग है और मानव स्वभाव की मूल-भावनाओ का चित्रण करने की जो सुन्दर शैली है, उसी का यह प्रभाव है कि हम, कम पढे-लिखे किसान चपरासी या सिपाही से लेकर बड़े-बड़े विद्वानो तक, झोपड़ी मे लेकर राजमहल तक, रामायण का प्रचार देखते हैं। अगर आप रामायण की शिक्षा का निचोड़ चन्द फिकरो मे यो रख दे—कि "पिता की सेवा करना पुत्र का कर्तव्य है, पतिव्रत प्रत्येक आर्य स्त्री का धर्म है, प्रजा का पुत्रवत पालन करना प्रत्येक राजा का कर्तव्य है आदि आदि—तो आप देखेंगे, ऐसी पुस्तक को पढ़ने वाले उँगली पर गिनने लायक ही मिलेंगे। लेकिन चूँकि इन शाश्वत नीति तत्वो का महत्व, दशरथ और राम के चारित्र्य से तथा सीता माता के जीवन के तत्वो से एक सुन्दर कहानी के रूप मे व्यक्त किया जाता है, इसीलिए हम देखते है कि इस देश की असख्य हिन्दी भाषी जनता इस ग्रन्थ को ईश्वर की वाणी मानकर पूजती है

भारी-भरकम नीति-तत्वो को किसी के गले उतारने की कोशिश करें तो सिवा नाकामयाबी के कुछ हाथ नही लगेगा। उन्ही को मनोहर कहानी के रूप मे सुरस ढग से पेश करे, फौरन हजम कर लिये जायँगे। कुनैन तो बेहद फायदेमन्द चीज होती है, लेकिन उस पर शक्कर की पुट चढ़ाकर अगर हम दें तो एतराज क्यो होना चाहिए? ऐसी शर्करान्वित दवा तो बालक भी मजे से चट कर जाते हैं।

अमरीका मे नीग्रो लोगो की गुलामी का भीषण सवाल था, जिसके कारण अब्राहम लिंकन को कई लडाइयाँ लडनी पडी और अन्त मे उसे अपनी जान से भी हाथ धोना पडा। हजारो भाषणो और लेखो से भी मानव जाति के इस भयकर कलंक के खिलाफ जन-मत तैयार नही हो सका लेकिन हैरियट बीचर स्टो की एक ही अमर कलाकृति 'टाम काका की कुटिया' (Uncle Tom's Cabin) ने गुलामी प्रथा के विरुद्ध जग का-सा असर पैदा कर दिया और जिसके कारण अमरीका में ऐसा भयकर तूफान उठा कि वह प्रथा नष्ट-भ्रष्ट हो गयी।

रूस की राज्यक्रान्ति की नींव मैक्सिम गोर्की की 'माँ' (मदर) तथा अन्य उपन्यासो ने तथा तुर्गनेव, चेखव और दोस्टोवस्की जैसे साहित्यिकों की कलाकृतियो ने डाली।

लेकिन इसी जमाने का सबसे अद्भुत उपन्यास 'आल क्वाइट आन द वेस्टर्न फ्रन्ट' (All Quiet on The Western Front) है जो १६१४-१८ के महायुद्ध के बाद प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास का लेखक एरिक मरिया रिमार्क, एक जर्मन था जो उन्नीस वर्ष की आयु में एक सिपाही की हैसियत से गत महायुद्ध मे भरती हुआ था। उसने अपनी आँखों से, रणक्षेत्र में जो निर्दयता, नृशंसता और बर्बरता के वीभत्स दृश्य देखे, उससे उसकी आत्मा दहल उठी और हृदय पुकार उठा—'यह सब फ़िजूल है, फिजूल है।' उस पुस्तक मे उसने अपनी आत्मा की चिर-वेदना उँडेल दी। युद्ध के खिलाफ घोर घृणा पैदा करने में तथा विश्व-शाति के लिए उचित वातावरण तैयार करने मे उस पुस्तक ने इतनी मदद पहुँचायी कि उसके लेखक को नोबल पुरस्कार देकर गौरवान्वित किया गया। स्मरण रहे कि यह लेखक की पहली कृति थी। लेकिन समय का फेर देखिए कि उसी जर्मनी में, जब हिटलर की शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, वह किताब जब्त कर ली गयी क्योकि उससे देश मे लड़ाई की

मनोवृत्ति पैदा करने में बाधा पहुँचती थी और हिटलर जर्मनी को पहले से भी भयकर महायुद्ध के लिए तैयार करना चाहता था।

बग-भंग युग मे बंगाल प्रान्त मे जो राजनैतिक बवडर उठा था, उसने सारे देश के सार्वजनिक जीवन को हिला दिया था। उस वातावरण की भूमिका में लिखा गया बकिम बाबू का उपन्यास, 'आनन्द मठ' आज भी कई युवको की प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। हमारे देश के हजारो-लाखों उत्सवो, समारभो मे गाया जाने वाला राष्ट्रीय गीत 'वन्दे मातरम्' उसी उपन्यास की देन है। शरत् बाबू के 'पथेर दायी' (पथ के दावेदार) मे भी एक प्रतिभाशाली, एक तेजस्वी क्रान्तिकारी का चित्रण है। यह उपन्यास पहले कुछ समय तक जब्त रहा, फिर उस पर से रोक उठी और फिर वह जब्त हो गया। हिन्दी के उपन्यास सम्राट स्वर्गीय प्रेमचन्द की 'रगभूमि' का असर कई युवकों पर पडा है। मैं ऐसे कुछ तरुणो को जानता हूँ जिन्होंने रगभूमि के नायक विनयकुमार से प्रेरणा पा कर सन् १९३० के राष्ट्रीय सग्राम मे भाग लिया था, जेलखाने की यातनाएँ सही थी और तबसे वे बराबर राष्ट्रीय कामो मे योग देते रहे हैं। रूस की राज्य क्रान्ति ने माईखेल शोलोखोव्ह की "एण्ड क्वाइट फ्लोज द डॉन" (And Quiet Flows The Don) और 'वर्जिन सॉयल अपटर्न्ड' (Virgin Soil Upturned) नाम के ऊँचे दर्जे के उपन्यास दिये हैं जिस से वर्तमान रूस की समाज व्यवस्था की ठीक तस्वीर मिल जाती है।

दुनिया में फैसिस्तवाद और प्रजातन्त्रवाद के बीच मे द्वितीय विश्व युद्ध के रूप में जो भयंकर युद्धाग्नि धधकी थी, उसने सन् १९१४-१८ के महासमर को बिलकुल पीछे ढकेल दिया है। इस युद्ध के कारण कई अपूर्व और नयी शक्तियाँ पैदा हो रही हैं जो विश्व के समस्त देशो में सामाजिक तथा राजनैतिक क्रान्ति की नीव खडी कर रही हैं। इतनी प्रलयकर

उथल-पुथल मानव जीवन के इतिहास मे पहले कभी नहीं हुई थी। हिन्दुस्तान भी इन विश्व-शक्तियो के असर से बचा नही है। जाहिर है कि इस ऐतिहासिक जमाने की भूमिका पर जो साहित्य लिखा जायगा, वह निसस्देह उच्चकोटि का होगा और हम इस सभावना की ओर बडी आशाप्रद दृष्टि से देख सकते हैं।

मराठी मे स्व० हरिभाऊ आपटे के 'गड आप्ठा पण सिंह गेला' उपन्यास ने—जिसमे नाना जी के सिंहगढ के आक्रमण तथा इसके आत्मोत्सर्ग की वीरगाथा है—महाराष्ट्र मे राष्ट्रीयता की भावना का खूब सँचार किया, जिसके कारण लोकमान्य तिलक के काम को बडी सहायता मिली। स्व० वामन मल्हार जोशी की 'रागिणी' भी उस प्रान्त की सास्कृतिक, बौद्धिक एव राष्ट्रीय भावनाओ का प्रतिबिम्ब है, जिससे कई युवको को प्रेरणा मिली है।

यहाँ तो मैने कुछ थोड़े ही से ऐसे उपन्यासो का जिक्र किया है, जिनके कारण समाज को लाभ पहुँचा है और पाठको का कल्याण हुआ है। विश्व के कथा-साहित्य के विशाल क्षेत्र मे हम यदि अधिक भ्रमण करे तो ऐसी और भी कई कलाकृतियाँ मिल सकती हैं। इन्हे खोकर तो हम मानव जाति के चिन्तन और भाव-व्यजना को एकदम ग़रीब कर देगे। निस्संदेह इन उपन्यासों का अवमान किसी हालत में नही किया जा सकता।

दार्शनिक या नीति-शास्त्रज्ञ तो लाठी के सहारे क़दम-क़दम चलता है, लेकिन उपन्यासकार पंखो पर उडता है। एक घटे मे जहाँ तत्ववेत्ता अपनी भूमिका बाँधता है वहाँ कथा-लेखक उन्ही तत्वो को लेकर अपनी कहानी की अतिम मजिल पर पहुँचता है और उसके पीछे पाठको का मजमा दौडा-दौडा चला आता है। शास्त्रज्ञ के विवेचन में तो लोग जँभाई लेने लगते हैं, लेकिन उपन्यासकार हँसता-खेलता हुआ आप को

सफर कराता है। इन्ही कारणो से उसकी शक्ति बडी है और उसी परिमाण मे उसकी जिम्मेदारी भी गहरी है।

सर जान हर्शल ने अंग्रेजी लेखक रिचर्डसन के 'पामेला' नामक उपन्यास के बारे मे एक बडी मनोरजक घटना बतलायी है। उस उपन्यास को एक लुहार रोज शाम को अपनी दूकान पर पढा करता था, जिसे सुनने के लिए उस गॉव के लोगो की खासी भीड़ लग जाती थी। वे लोग बड़े ध्यान से उस कहानी को सुनते थे, बीच-बीच मे अपनी राय, खुशी, दुख इत्यादि भी जाहिर करते जाते थे। अन्त मे जब नायक और नायिका का मिलन हुआ तो श्रोतागण खुशी के मारे नाच उठे और इतने आनन्द-विभोर हो गये कि उसी उत्साह मे पादरी से चाबी लेकर उन्होने गिरिजाघर खोला और उसके घण्टे बजाने लगे।

इसी कारण, मै कह चुका हूँ कि उपन्यास-लेखक के कधे पर गहरा उत्तरदायित्व है। बुरे उपन्यास द्वारा वह समाज को बहुत बडा नुकसान पहुँचा सकता है और इसलिए उसे बहुत सावधान होने की जरूरत है

अभी उस दिन मैने बम्बई के अखबार मे एक समाचार पढा कि तीन कम उम्र के बालक रात को एक दूकान के कॉच की 'शो-विन्डोज' फोडते हुए पकड़े गये। पुलिस को अदेशा हुआ कि उनकी नीयत चोरी करने की थी। जब उन्होने दूसरे दिन उन्हे अदालत मे पेश किया तो लडको ने कहा कि परसो रात को हमने अमुक फिल्म देखा था, जिसमे डाकुओ के सरदार की कहानी थी, जिसके कारण हमे भी उसके नेता का अनुकरण करने की इच्छा हुई। हमारी नीयत चोरी करने की कतई न थी। मैजिस्ट्रेट ने उनके कथन पर विश्वास किया और उन्हे ताकीद करके छोड दिया। लेकिन वर्तमान फिल्मो के ऊपर मैजिस्ट्रेट ने काफी छीटे कसे, उनकी घोर निन्दा की और जनता को भी सलाह दी कि वे अपने बच्चो को बुरे प्रभाव से बचाये। जो परिणाम बुरी फिल्म देखने से होता है, ठीक वही बुरे

उपन्यास के पढ़ने से हो सकता है। इसलिए ऐसे उपन्यासो के खिलाफ आवाज उठाना जरूरी हो जाता है।

पढे-लिखे समझदार बुजुर्गों को उपन्यासो से जो सबसे बड़ी शिकायत है, वह यह कि उनमे 'सेक्स' (यौन सम्बन्धी) भावनाओ को उभारने की सामग्री रहती है और इसका कच्ची उम्र के युवक और युवतियो पर बुरा असर पडता है। इस शिकायत से भी कोई एतराज नही, तरुण पीढी के हितचिन्तक को इस प्रकार के सेक्स प्रधान उपन्यासो से चिन्ता होना स्वाभाविक है। किन्तु यह प्रश्न इतने आसान तरीके से, साधारण प्रयत्न करने से, हल नहीं किया जा सकता। हमें इसकी तह मे जाकर विचार करना होगा।

मनुष्य की दो मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं जो आदिम काल से चली आ रही है। वे हैं, आत्मरक्षा की भावना (Self preservation) और वंश रक्षा (Race preservation) सेक्स का सम्बन्ध इसी दूसरी प्रवृत्ति से है। विश्व की सबसे बडी शक्ति है—प्रेम। 'सेक्स' उसी शक्ति का एक स्वरूप है। प्रेम के कई रूप होते हैं और उनमे अच्छी, अधिक अच्छी या बुरी श्रेणियाँ होती हैं। सबसे हलके रूप मे प्रेम का रूप वासनायुक्त, पाशविक, लैंगिक सम्बन्ध है, जिसका खुला प्रदर्शन समाज में निषिद्ध माना जाता है और साहित्य मे भी वह हानिकारक है। किन्तु इसी प्रेम की और भी ऊँची श्रेणियाँ होती हैं, जैसे पति-पत्नी का दाम्पत्य प्रेम, गार्हस्थ्य जीवन का प्रेम, समाज निष्ठा अर्थात् समष्टि प्रेम, देश भक्ति अर्थात् राष्ट्रप्रेम, विश्व-बन्धुत्व अर्थात् समस्त मानव जाति का प्रेम, और परब्रह्मत्व यानी ईश्वर प्रेम और उसमे लीन हो जाने की भावना। प्रेम के ये सब विविध रंग-रूप हैं। यह भावना मनुष्य स्वभाव की सबसे बडी प्रेरक शक्ति है और विश्व के बड़े-से-बड़े साहित्य को इसी से बल और जीवन मिला है।

इसलिए हम सरसरी तौर पर यह कह दे कि प्रेम-प्रधान उपन्यासो से

समाज का अहित होता है तो मेरी अदना राय में, ग़लत है। हॉ जिसमें वासनामय पाशविक प्रेम का निर्लज्ज प्रदर्शन है, वह तो दरअसल बुरी चीज है। इस प्रकार के उपन्यास इंगलैण्ड, फ्रास और अमेरिका मे काफी निकल चुके हैं। अंग्रेजी में आधुनिक सेक्स उपन्यास की प्रणेती एक स्त्री है, जिसका नाम एलिनॉर ग्लिन है। सितम्बर १९४३ मे ७८ वर्ष की अवस्था में इसकी मृत्यु हुई। इस लेखिका के उपन्यास 'थ्री वीक्स' को १०,००० पौण्ड (सवा डेढ़ लाख रुपये के करीब) मिले थे। लेखिका का जीवन भी उसके उपन्यासो की तरह स्वच्छन्द था। इसी तरह ऐसे उपन्यासो की कमी नहीं है जो वासनाओ को प्रदीप्त करते हैं। निस्सदेह इनसे समाज का घोर अकल्याण हो सकता है और इनका प्रचार जितना कम हो उतना अच्छा।

लेकिन कई ऐसे उपन्यास होते हैं जिनमे सेक्स भी एक पहलू होता है, लेकिन वही सर्वप्रधान वस्तु नही होती। लेखक सिर्फ उसी पक्ष पर जोर नही देता। सेक्स से पैदा होने वाली घटना जीवन की दुर्घटना (ट्रेजेडी) को घनीभूत करती है और पुस्तक पढने के बाद हमारे मन पर जो असर होता है, वह सेक्स भावना का नहीं, किन्तु उस जीवन नाटक की महान ट्रेजेडी का, मानव जीवन की असहायता या व्यर्थता की भावना का होता है। जैसें हार्डी की टैस (Tess)। इसमें नायिका के असीम दुःखो का प्रारम्भ सेक्स की दुर्घटना से ही होता है, लेकिन आगे चलकर यह चीज इतनी गम्भीर, गहरी और दिल को दहला देने वाली हो जाती है कि पाठक का हृदय असीम अनुकम्पा, करुणा और विकलता की भावनाओ से भर जाता हैं। टालस्टाय के 'रिजरेक्शन' मे भी आपको यही बात मिलेगी। प्रणय के खेल में पुरुष तो मौज करके अलग निकल भागता है, लेकिन स्त्री को उस निर्मम खेल की भयकर क़ीमत जीवन के अन्त तक चुकानी पड़ती है। टालस्टाय की ही 'अन्ना केरेनि ा' मे भी एक विवाहिता स्त्री

के पर-पुरुष-गमन का चित्रण है, लेकिन इस वासना-क्रीडा का पर्यवसान इतना भयकर हुआ है कि नायिका के लिए चलती हुई रेलगाड़ी के पहियों के नीचे अपनी जान दे देने के सिवा और कोई रास्ता नही बच रहा है। चूंकि इन उपन्यासो मे वासना के अभिनिवेश का चित्रण है, इसलिए हम उन्हें गन्दा या कुरुचिपूर्ण समझने लगे, तो हम विश्व के इन अमर कलाकारो के प्रति अन्याय करेंगे।

रूसी लेखक अलेक्जेडर कुप्रिन की यामा (Yame the Pit) पुस्तक कथा साहित्य के इतिहास की बडी विचित्र घटना है। यह उपन्यास वेश्या-व्यवसाय का यथार्थ चित्रण करते हुए इस भयकर सामाजिक प्रश्न पर दुनिया के चिन्तकों और समाज-सुधारको का ध्यान खींचता है। पहले-पहल जब यह उपन्यास रूस मे प्रकाशित हुआ तब बड़ी खलबली मची। सेन्सर की कैंची ने उसपर कठोर आघात किया। किन्तु समय के गुजरते, जनता ने लेखक के मन्तव्य को सही अर्थों मे ही नहीं वरन् उसके निःस्वार्थ और ईमानदार दृष्टिकोण को भी समझा। इस अप्राकृतिक, अमानुषिक सवाल के प्रति जन-मत प्रक्षुब्ध हुआ और लोगो को पहली बार अनुभव हुआ कि वेश्या-व्यवसाय के वाह्य स्वरूप के पीछे कितनी भयकर वेदना, बेबसी, कष्ट-भोग और नृशसता छिपी हुई है। वेश्या घृणा की नहीं, दया की पात्र है। इस पुस्तक की बीस लाख से ज्यादा प्रतियाँ बिक चुकी हैं और यह उपन्यास अब तक फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, इटैलियन, जापानी, स्वीडिश, फिनिश, नार्वेजियन, बोहोमियन, हगारियन, अंग्रेज़ी, पोलिश, लिथुआनियन, हिन्दी और लगभग ससार की समस्त भाषाओ मे अनुवादित हो चुका है। इस पुस्तक के यश के बारे मे लेखक कहता है कि इसकी लोकप्रियता के पीछे पाठको की अनुचित चिकित्सा-बुद्धि नही है। और जैसा कि कुप्रिन ने स्वय लिखा है, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि यामा ने कई लोगो को वेश्या-व्यवसाय के बारे मे

सहानुभूतिपूर्वक सोचने के लिए मजबूर किया है।" लेखक का यह विश्वास सही है। यह पुस्तक 'युवको और माताओ को' समर्पित है।

इन उदाहरणों से यही बात बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि किसी उपन्यास में प्रणय या सेक्स की जरा सी हवा देखकर ही 'हरे राम, हरे राम', 'अनर्थ हो गया' इत्यादि नहीं पुकार उठना चाहिए। उपन्यास की अच्छाई या बुराई तो लेखक के मूल हेतु, चित्रीकरण और अन्तिम प्रभाव पर निर्भर होती है। किसी एक ख़ास चीज को उसके सदर्भ से उठाकर यह कहने मे कि देखो, यह गन्दगी है, हम लेखक के प्रति अन्याय करते हैं। इस पैमाने से नापने मे तो हमे टालस्टाय, चेख़व, गोर्की, एमिल जोला, बालजाक, जोजेक कोनराड, विक्टर ह्यू गो, स्ट्रिंडबर्ग, हार्डी, शरच्चन्द्र आदि कलाकारों का निर्वासन करना होगा।

हॉ, कुछ लोग ऐसे होते हैं जो किसी भी अच्छी-से-अच्छी पुस्तक मे से बुरी चीज निकालने का गजब का माद्दा रखते हैं। टालस्टाय के उन नीति-तत्वो के बजाय उसके प्रेम-वर्णन के परिच्छेदो का उनपर ज्यादा असर पडता है। ऐसे लोगो के लिए क्या किया जाय ? इस प्रवृत्ति के लोग यदि रामायण पढ़ने के बाद सीताहरण की घटना से दूसरे की स्त्री भगा ले जाने का सबक सीखे या लक्ष्मण-शूर्पणखा-प्रकरण से नारी पर हाथ उठाना जायज समझें तो इसमे तुलसीदास जी का क्या दोष ? जिस की जो दृष्टि होगी उसे वैसा ही दीख पड़ेगा। उसकी जैसी ग्रहण शक्ति होगी, वही वह हजम कर सकेगा। यहॉ पर एक कथा बरबस याद आती है—

एक बिल्ली घूम कर लौट आयी। उससे पूछा गया—"ऐ बिल्ली, तू कहॉ गयी थी ?"

"मै रानी के महल मे गयी थी।"

"ओहो! वहॉ तूने क्या देखा ?"

"वहाँ मैने कुरसी के नीचे एक चूहा देखा।"

उस बिल्ली को न तो रानी दिखी, न उसके जवाहर और न आभूषण और न वहाँ की दास-दासियाँ। दिखा तो सिर्फ चूहा ही दिखा। ऐसी दृष्टि के लोग किसी भी उपन्यास से वही चीज पायेंगे जो उनके मन की आँखो मे है। इसमे उपन्यास का कोई दोष नहीं है।

अन्त मे यह प्रश्न उठ सकता है कि अच्छे उपन्यासों की पहचान क्या है? इसका विस्तृत उत्तर तो क्या दिया जा सकता है? लेकिन साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि वे उपन्यास अच्छे है, जिनके पढने से समस्त मानव-जाति के प्रति श्रद्धा विचलित नही होती, नारी-जगत के प्रति सम्मान बढता है, जिनसे हमारी सत्प्रवृत्ति और प्रगति भावना का पोषण होता है, जिनसे गृह, समाज, देश और धर्म के प्रति निरादर नही फैलता तथा जिनसे हमारी कर्त्तव्य बुद्धि और नैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है। प्रत्येक उपन्यास मे हमे सब बाते नही मिलेगी। कही कुछ, कहीं कुछ दिखायी देगा। मुख्य बात यही है कि मनुष्य मानव-द्रोह करना न सीखे, जो साहित्य मावन-प्रेमका सदेश दे वही अच्छा साहित्य है। उसका स्वागत करना चाहिए। इसमें उपन्यास का अपना स्थान है।